वर्ष ४८] [अङ्क ६

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,६२,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५२००, जून १९७४ ई०

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगतपते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—स्वामी रामसुखदास, पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री, साहित्याचार्य

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीरामका सीताको चित्रकूटकी शोभा दिखाना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
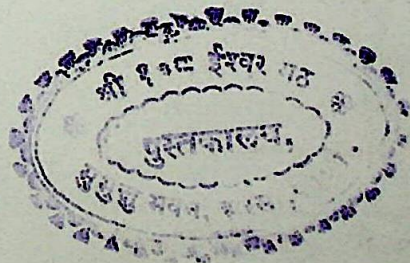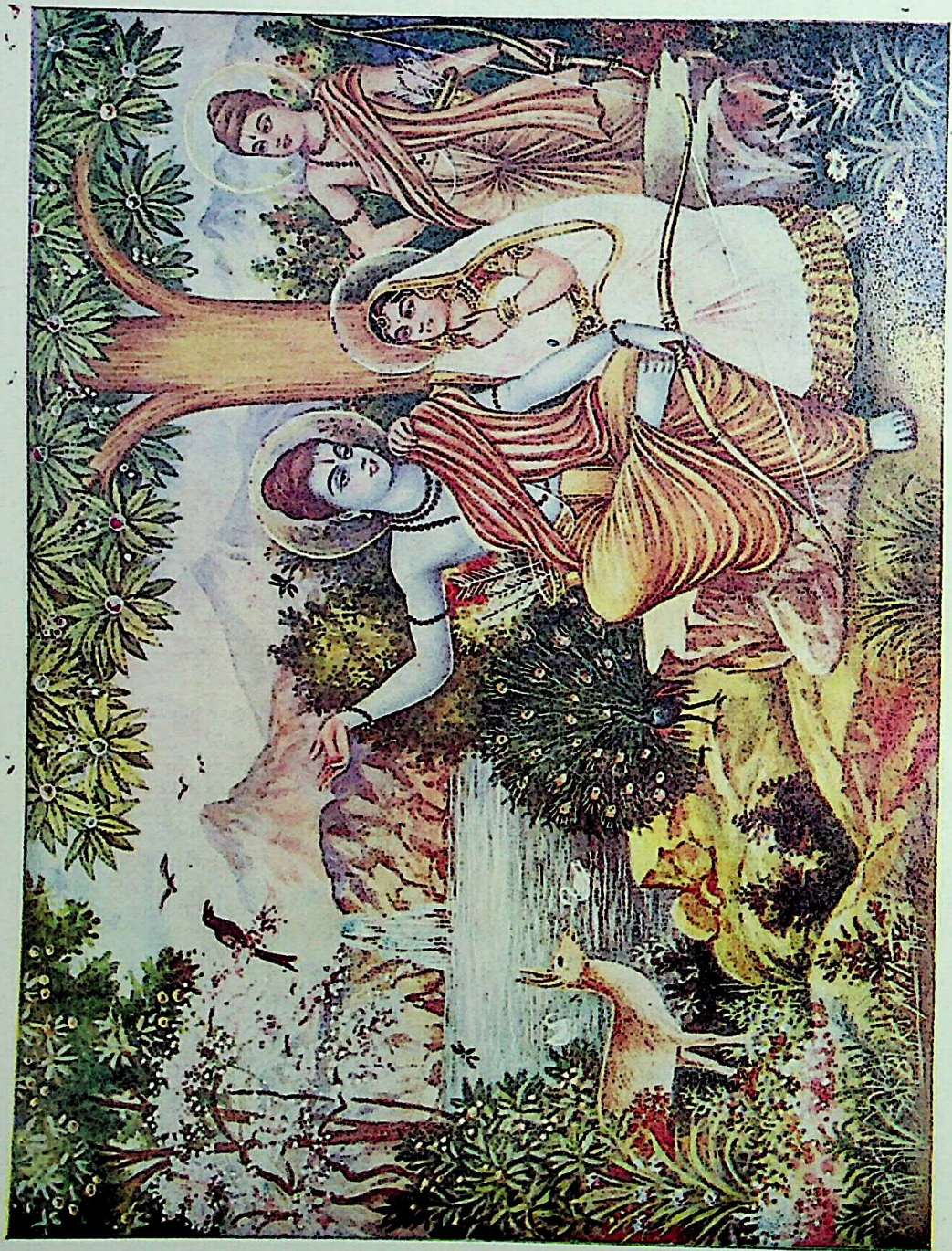
यं निर्जरासुरनरा अखिलार्थसिद्ध्यै भूर्यन्तरायहतयेऽनुदिनं नमन्ति ।
तं भक्तकामपरिपूरणकल्पवृक्षं भक्त्या गणेशमखिलार्थदमानतोऽस्मि ॥

वर्ष ४८ } गोरखपुर, सौर आषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५२००, जून, १९७४ { संख्या ६ पूर्ण संख्या ५७१

चित्रकूटमें श्रीराम, सीता एवं लक्ष्मण

चित्रकूट-वन शान्त कान्त कामदगिरि-माला,
विटप बेलि कल कुञ्ज-पुञ्ज सज रहा निराला।
झरते निर्झर नीर कीर-कोकिल कल गाते,
मृग अशङ्क मदमत्त मोर नव नृत्य दिखाते ॥

जल-विहङ्ग-कलनाद-कलित सरिताकी धारा,
कुसुमावलिपर अलिकुलका गुञ्जारव प्यारा।
स्फटिक-शिलापर रुचिर कल्पतरुकी छायामें—
बैठे श्रीरघुवीर नीरधर-छवि कायामें ॥

पीछे लक्ष्मण और सुहातीं सीता बायें,
गिरि-सुषमा श्रीराम दिखाते हाथ उठाये।
विधि हरि हर जिनके दर्शनको हैं ललचाते,
वनवासी उनको हैं लोचन-अतिथि बनाते ॥

'राम'

कल्याण

संसार अनित्य और क्षणभङ्गुर है। यहाँकी कोई भी वस्तु न नित्य है, न पूर्ण। इसलिये जीवनका एक-एक श्वास भगवान्‌के मधुर तथा पवित्र स्मरणमें बीतना चाहिये। जगत्‌के सभी प्राणी-पदार्थोंसे ममताका सम्बन्ध तोड़कर—शरीरमें भी ममता न रखकर—एकमात्र सच्चिदानन्दघन नित्य परिपूर्ण भगवान्‌में ही ममता रखनी चाहिये। यहाँ न राग रहे न द्वेष, न अपना कुछ रहे न पराया। सभी भगवत्स्वरूप, सभी भगवान्‌की लीला। कभी पर्दा पड़ता है, कभी खुलता है—नये-नये पर्दे, नये-नये दृश्य। सभी वे, सभीमें उनकी लीला। यहाँ तो जो पर्दा खुला है, वह पड़ेगा ही; एक ही पर्दा—एक ही दृश्य (सीन) सदा नहीं रहता। पर पर्देवाला—पर्दा गिराने-खोलनेवाला सदा एक रहता है, रहेगा। उसीको देखें, उसीमें घुले-मिले रहें।

संसारका स्वरूप तो जैसा है, वैसा ही रहेगा, यह बदलेगा नहीं। भगवान्‌के मङ्गलमय विधानमें विश्वास करके इसमें अनुकूलताका अनुभव किया जायगा तो सदा सर्वत्र सुख रहेगा; नहीं तो यह दुःखालय ही है। दुःखालयमें कभी सुखकी सम्भावना नहीं। सुख सारा है एकमात्र भगवान्‌में। उनमें स्थित रहनेपर दुःखकी सम्भावना नहीं। नित्य अखण्ड अनन्त सुख चाहिये तो भगवान्‌में स्थित रहना या भगवान्‌को अपनेमें सदा बसाये रखना चाहिये। भगवान्‌ने कहा है—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।'

इस अनित्य और सुखरहित लोकमें (सुख चाहते हो तो) मुझको भजो।

जहाँ मृत्यु-ही-मृत्यु है—प्रतिपल प्रत्येक वस्तुका विनाश हो रहा है, वहाँ सुख कहाँसे होगा! इस मृत्युमय संसारमें ही नित्य भगवान्‌के साथ सम्पर्क स्थापित करके सुखी होना है। यह भगवत्कृपासे अपने हाथकी बात है। जगत्‌की परिस्थितिको अपने अनुकूल बनाना असम्भव है, अपनेको अपनी परिस्थितिके अनुकूल बनाना उचित है। फिर हर हालतमें आनन्द-ही-आनन्द है।

संसारका स्वरूप सभीके समक्ष है। यहाँ जो लोग ऊपरसे देखनेमें धन-पुत्र-मान-मकान-आराम आदिसे बहुत सुखी माने जाते हैं, वे सभी अत्यन्त दुःखी हैं और उनमेंसे अधिकांशका भविष्य भी दुःखमय ही है। पर जो यहाँ दुःखी देखा जाता है—यदि उसके मनमें विषयासक्ति नहीं है तो वह परम सुखी है और उसका भविष्य भी परम सुखस्वरूप है। अतएव सदा-सर्वदा विषयोंमें दुःख देखते हुए विषय-विराग तथा भगवान्‌के चरणोंमें दृढ़ानुराग रखना और बढ़ाना चाहिये। यहाँकी प्रतिकूलताको प्रभुकी कृपामयी देन समझकर उसे परम अनुकूल मानना चाहिये। ऐसा मानना चाहिये कि सोना तपाया जाकर परम विशुद्ध किया जा रहा है। यहाँ किसी भी प्राणी, पदार्थ और परिस्थितिमें—किसी भी पाञ्चभौतिक पदार्थमें आसक्ति-ममता न रहे। फिर कभी दुःखके दर्शन होंगे ही नहीं, अशान्ति आयेगी ही नहीं। सदा परमसुखका समुद्र लहराता रहेगा।

संसारकी गति जैसी है, उसे देखते हुए यही अनुमान होता है कि अभी कष्ट, दुःख, विपत्तियाँ और बढ़नेवाली हैं। कारण, मानसिक द्वेषका फल सामने आयेगा ही। जितना-जितना पाप बढ़ेगा उतना-उतना ही दुःख बढ़ेगा। पापका मूल है—राग-द्वेष; राग-द्वेष होते हैं ममतासे। अतएव संसारमेंसे ममता निकालकर समता कर लें और एकमात्र भगवान्‌में ही ममता रखें—

तुलसी ममता राम सों, समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख, दास भए भव पार॥

(दोहावली ९४)

'भाईजी'

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[श्रद्धा और सत्सङ्गकी आवश्यकता]

विशुद्ध प्रेम ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शनका प्रधान उपाय है। यह प्रेम किस प्रकार होता है, इसका विवेचन करना चाहिये। सबसे प्रथम यह विश्वास होना आवश्यक है कि ईश्वर है और वह सुहृद्, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, परमदयालु, प्रेममय, आनन्ददाता, एवं सर्वत्र साक्षात् विराजमान है। जबतक इस प्रकारका विश्वास नहीं होता, तबतक मनुष्य परमात्मासे मिलनेका अधिकारी ही नहीं हो सकता। पवित्र अन्तःकरण होनेपर ही मनुष्य अधिकारी हो सकता है। निष्कामभावसे किये हुए भजन, ध्यान, सेवा, सत्सङ्ग मनुष्यके हृदयको पवित्र करते हैं और पवित्र हृदय होनेसे मनुष्य भगवत्प्राप्तिका अधिकारी भी बनता है। ईश्वरका ज्ञान भी उसके अधिकारी बननेके साथ-ही-साथ बढ़ता रहता है। इस प्रकार जब मनुष्यको ईश्वरका भली प्रकार ज्ञान हो जाता है और जब वह ईश्वरको भलीभाँति तत्त्वसे जान लेता है, तब ईश्वरसे वह जिस रूपमें मिलना चाहता है, भगवान् उसी रूपमें उसको दर्शन देते हैं। भगवान् सर्वव्यापी परमात्मा सच्चिदानन्दरूपसे तो सर्वदा सर्वत्र वर्तमान हैं ही, पर भगवान्के रहस्यका ज्ञाता भगवद्भक्त जिस सगुण, साकार, चैतन्यमय मूर्तिमें उनसे मिलनेकी इच्छा करता है, वह नटवर उसी मोहिनी-मूर्तिमें अपने प्रेमी भक्तसे मिलता एवं बातें करता है। इसमें प्रधान कारण प्रेम और पूर्ण विश्वास ही है, जिसको विशुद्ध श्रद्धा भी कहा जाता है; इसीकी भगवान्ने गीतामें स्थान-स्थानपर प्रशंसा की है। जैसे—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(६ । ४७)

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(गीता १२ । २)

मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं, अर्थात् उनको मैं अति श्रेष्ठ मानता हूँ।

वे सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन प्रभु सगुण साकार रूपसे किस प्रकार प्रकट होते हैं? इस रहस्यको यथार्थतासे तो भगवान्का परम श्रद्धालु अनन्यप्रेमी पूर्ण भक्त ही जानता है; क्योंकि यह इतना गम्भीर और रहस्यपूर्ण विषय है कि अन्तःकरणकी पवित्रताके बिना साधारण मनुष्योंकी तो बुद्धिमें ही इसका आना सम्भव नहीं; पर जो उस परमेश्वरका नित्य-निरन्तर स्मरण करते हैं, उनके लिये यह भगवान्का रहस्यपूर्ण तत्त्व सहज गम्य है।

यद्यपि साधु, महात्मा और शास्त्रोंने इस तत्त्वको समझानेके लिये बहुत प्रयत्न किया है, पर करोड़ोंमें कोई एक बिरला ही इस तत्त्वको समझ पाता है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(७ । ३)

हजारों मनुष्योंमेंसे कोई ही मेरी प्राप्तिके लिये

यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मुझको तत्त्वसे जानता है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥
(गीता २।२९)

यह आत्मतत्त्व बड़ा गहन है; इसलिये कोई महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों देखता है और वैसे ही कोई दूसरा महापुरुष ही आश्चर्यकी ज्यों इसके तत्त्वको कहता है और दूसरा कोई ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों सुनता है और कोई-कोई सुनकर भी इस आत्माको नहीं जानता।

जिस प्रकार चकमक पत्थर लोहेको आकर्षित करता है, फोनोग्राफकी चूड़ी और रेडियो शब्दको आकर्षित करते हैं एवं कैमरेका प्लेट जैसे आकारको खींचता है, उसी प्रकार उस भगवान्‌का प्रेमी भक्त अपने अनन्यप्रेमके यन्त्रसे भगवान्‌को आकर्षित कर लेता है। कोई देश, कोई वस्तु, कोई जगह भगवान्‌से खाली नहीं, वह सर्वत्र परिपूर्णरूपसे सर्वदा अवस्थित है। प्रेमी भक्त उसको जिस मूर्तिमें, जिस रूपमें और जिस समय प्रकट करना चाहता है, वह लीला-निकेतन नटवर उस प्रेमीके अनन्यप्रेमसे मोहित होकर उसी मूर्ति—उसी रूपमें और उसी समय साक्षात् प्रकट हो जाता है।

ये जितने प्रकारके उदाहरण ऊपर दिये गये हैं—जड-पदार्थ-विषयक होनेके कारण कोई भी उस चेतनरूप परमात्मामें पूर्णरूपसे नहीं घट सकते; क्योंकि परमात्माके सदृश कोई वस्तु है ही नहीं, जिसका उदाहरण देकर उस परमेश्वरके विषयको समझाया जा सके।

संसारमें सभी मनुष्य सुख चाहते हैं। सुखसे या जिससे सुख मिलनेकी आशा रहती है, उससे प्रेम करते हैं। इसलिये जो मनुष्य भगवान्‌को परम सुखस्वरूप और एकमात्र सुखप्रद समझ लेता है, उससे बढ़कर या उसके समान आनन्दप्रद एवं आनन्दस्वरूप किसी भी वस्तुको नहीं समझता तथा उसपर जिसको पूर्ण विश्वास हो जाता है, वह पुरुष ईश्वरको छोड़ और किसीसे प्रेम नहीं कर सकता। संसारमें जहाँ भी सुख और आनन्द प्रतीत होता है, वह उस आनन्दमय परमात्माके आनन्दका आभासमात्र ही है। वह क्षणिक, अल्प और अनित्य है। परमेश्वर अनन्त, नित्य, पूर्ण, चेतन और आनन्दघन है। इसलिये उस नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्माके साथ किसी सांसारिक आनन्दकी तुलना नहीं की जा सकती। भजन, ध्यान, सेवा, सत्सङ्ग आदिसे पवित्र अन्तःकरण होनेके साथ-ही-साथ उपर्युक्त प्रकारके ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश मनुष्यके हृदयाकाशमें चमकने लगता है।

बतलाइये, जो इस प्रकार उस परमानन्दके वास्तविक तत्त्वको समझ लेता है, वह कैसे इस सांसारिक तुच्छ विषयजन्य नाशवान् अनित्य सुखमें फँस सकता है?

इसलिये मनुष्यको परमेश्वरमें अनन्यप्रेम होनेके लिये भजन, ध्यान, सेवा, सत्सङ्ग, सदाचार आदिकी पूर्ण चेष्टा करनी चाहिये।

उस परमप्यारे परमात्माकी मोहिनी मूर्तिका साक्षात् दर्शन करनेवाले एवं उसके तत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले पुरुषोंद्वारा ईश्वरके गुण, प्रेम और प्रभावकी बातोंको प्रेमसे सुनने एवं समझनेसे ईश्वरमें तर्करहित विशुद्ध श्रद्धा उत्पन्न होती है। यदि ऐसे महात्माओंसे मिलना न हो तो प्रेम और श्रद्धासे उस परमेश्वरकी

प्राप्तिका प्रयत्न करनेवाले साधकोंका सत्सङ्ग करना चाहिये एवं उनसे ईश्वर-विषयक गुण, प्रेम और प्रभावकी चर्चा करनी चाहिये । ऐसा करनेसे भी भगवान्‌में श्रद्धा और भक्ति बढ़ती है । यदि इस प्रकारके उच्च श्रेणीके साधकका सङ्ग भी न मिले तो मनुष्यको जिनमें ईश्वरके प्रेम, प्रभाव, गुण और तत्त्वकी बातोंका वर्णन हो, एवं जो ईश्वर या महापुरुषों-द्वारा रचे हुए हों, ऐसे शास्त्रोंका विचारपूर्वक प्रेमसे अध्ययन करना चाहिये । सम्पूर्ण शास्त्रोंमें ईश्वरतत्त्वके ज्ञानके लिये भगवद्गीताके समान दूसरी पुस्तक नहीं है । महाभारतमें कहा गया है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥
(भीष्मपर्व ४५ । ३)

गीताके अध्ययनसे ईश्वरमें पूर्ण श्रद्धा हो सकती है । यदि इन ग्रन्थोंके समझनेकी बुद्धि भी न हो तो परम-पिता परमात्मासे नित्यप्रति एकान्तमें सच्चे हृदयसे विनयभावपूर्वक गद्गद होकर प्रेमसहित विशुद्ध श्रद्धा होनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये । उस दयासागरके सामने की हुई सच्चे हृदयकी प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं होती । इस अभ्याससे परमात्मामें तर्करहित पूर्ण श्रद्धा हो सकती है ।

बिना श्रद्धाके ईश्वर-तत्त्वका ज्ञान हो ही नहीं सकता, वरं उत्तरोत्तर पतन ही सम्भव है । जैसे गीतामें लिखा है—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥
(९ । ३)

हे परंतप ! इस तत्त्वज्ञानरूप धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते हैं ।

अतः ईश्वर-तत्त्वको जाननेके लिये श्रद्धाकी परम आवश्यकता है; क्योंकि श्रद्धासे ही ईश्वरके तत्त्वका ज्ञान होकर परमशान्ति प्राप्त होती है । गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(४ । ३९)

जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ, श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है । ज्ञानको प्राप्त होकर वह तत्क्षण भगवत्प्राप्ति-रूप परमशान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

इसलिये ईश्वरमें अनन्य श्रद्धा होनेके लिये कटिबद्ध होकर प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये ।

उपर्युक्त चार साधनोंमेंसे किसी एकका या अधिक-का जो जितना अभ्यास करेगा, उसकी उतनी ही श्रद्धा बढ़ेगी एवं उस परमपिता परमेश्वरमें उतना ही अधिक प्रेम होगा । सभी साधनोंका पालन करनेसे शीघ्र ईश्वरमें श्रद्धा हो सकती है एवं आदर और प्रेमसे किया हुआ अभ्यास अन्तःकरणको पवित्र करके बहुत अधिक श्रद्धा बढ़ा देता है ।

उपर्युक्त साधनोंका प्रेम और आदरसे जितना अधिक अभ्यास किया जाता है, उतना ही शीघ्र मनुष्यका हृदय पवित्र हो जाता है । हृदय पवित्र होनेके साथ ही परमेश्वरमें सर्वदा दृढ़ भावना बढ़ती है, भावनाके दृढ़ होनेसे सर्वत्र ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन होने लगता है । उस समय वह सर्वव्यापी परमेश्वर सीयराममय देखनेवाले-को सीयराममय एवं केवल राममय देखनेवालेको राममय दिखलायी पड़ने लगता है ।

एक महात्माका प्रसाद

मनमें कभी भी ऐसे भाव नहीं उठने चाहिये जिनको प्रकट करनेमें भय, संकोच तथा लज्जाका अनुभव हो; क्योंकि भावके पवित्र होनेसे क्रिया स्वतः ही शुद्ध होने लगती है, जिससे जीवनकी उलझन मिट जाती है अर्थात् जीवन सच्चा और सरल हो जाता है। अशुभ इच्छाओंको पवित्र विचाररूपी अग्निसे जला दो। शुभ इच्छाओंकी पूर्तिके लिये अखण्ड प्रयत्न करो। एक काम पूरा होनेपर जबतक दूसरेका आरम्भ न हो, तबतक उस बीचकी अवस्थाका अनुभव कर अनन्त आनन्द प्राप्त करो।

आनन्दका खजाना अत्यन्त समीप है। उसकी खोज बाहर करना भूल है, बल्कि बाहरकी खोज मिटनेपर ही वह खजाना अपने-आपमें मिल जाता है, जिससे दुःखोंका स्वतः अन्त हो जाता है; इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। जीवन विश्वास करनेकी वस्तु नहीं है। इसलिये जीवनका जो परम लक्ष्य—सच्चे आनन्दका अनुभव करना है, उसके बिना चैनसे रहना भूल है। जीवन हृदयकी पवित्रतासे ऊँचा बनता है अर्थात् जो कमी है, उसके मिट जानेपर ही वैसा होता है। हृदयकी पवित्रता शुद्ध ज्ञानसे, और शुद्ध ज्ञान अपनेको शरीर न समझनेपर होता है; परंतु ऐसा भाव सदैव एवं निरन्तर बना रहना चाहिये। अपनेको जैसा देखना चाहते हो, जबतक वैसा न देख लो चैनसे मत रहो। यही परम अवसर है जिसके सदुपयोग करनेसे सब प्रकारके रोग मिट जाते हैं।

शरीरमें कोई भी विकार मनकी थकावटके बिना नहीं होता। इसलिये मनकी थकावट दूर करनेका प्रयत्न करो। मनकी थकावट प्रसन्न रहनेसे दूर होती है। प्रसन्नता सेवा-भावसे, सेवाभाव त्यागसे एवं त्याग अपनेको भगवान्का समझनेपर और सबमें भगवान्का दर्शन करनेपर स्वतः उत्पन्न हो जाता है।

* * *

मेरा अपना व्यक्तिगत विश्वास है कि मानव अपने सिद्धान्तके अनुसार उसके जीवनका जो सत्य है, उसे अपनाये और निःसंकल्प होकर रहे तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्राप्त परिस्थितिमें अपने लक्ष्यको प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टिसे सर्वदेशमें, सर्वकालमें सभी साधक साधन-निष्ठ हो सकते हैं। मानव सबसे बड़ी भूल यह कर बैठता है कि प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग न करके अप्राप्त परिस्थितियोंका आवाहन करता रहता है। प्राकृतिक विधानके अनुसार प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है और कुछ नहीं। साधन-सामग्रीके सदुपयोगसे ही साध्यकी उपलब्धि होती है। किसी परिस्थितिसे किसीको चिर-शान्ति, जीवन्मुक्ति एवं भक्तिकी उपलब्धि नहीं होती। जिसकी प्राप्ति किसी परिस्थिति-विशेषसे सम्बन्ध नहीं रखती, उसकी उपलब्धि सभी परिस्थितियोंमें हो सकती है। अतः सजग मानवको प्राप्त परिस्थितिका आदरपूर्वक सदुपयोग कर सभी परिस्थितियोंसे अतीत जो वास्तविक जीवन है, जिसकी माँग मानवमात्रमें विद्यमान है, उससे अभिन्न हो जाना चाहिये। प्राप्त-परिस्थितिके सदुपयोगकी स्वाधीनता मानवमात्रको जन्मजात प्राप्त है। इस दृष्टिसे प्रत्येक मानव वास्तविक जीवनकी प्राप्तिमें सर्वदा स्वाधीन है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव अपनेको साधक स्वीकार करे और अपने ज्ञानका अनादर, बलका दुरुपयोग एवं अपनी आस्थामें विकल्प न करे। ऐसा करते ही वह सुगमतापूर्वक सत्सङ्गके द्वारा साधननिष्ठ होकर साध्यको प्राप्त कर लेता है। भूलरहित होते ही जीवनमें कर्तव्य-परायणता, असङ्गता एवं आत्मीयताकी अभिव्यक्ति होती है और फिर जीवन सभीके लिये उपयोगी हो जाता है।

जो विचारशील पुरुष अपनेको मल-मूत्रपूर्ण क्षणभङ्गुर शरीरसे ऊपर उठा लेता है, वही संसारसे पार हो पाता है; क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी आवश्यकता शरीरके लिये न हो। हृदयको अपनी दृष्टिसे स्वयं देखो कि उसमें कौन-सी भावनाएँ अङ्कित अर्थात् बैठी हुई हैं। जिस प्रकारकी भावनाएँ होती हैं, उसीके अनुरूप इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिकी प्रवृत्ति अपने-आप होती है। भावनाके प्रतिकूल इन्द्रिय, मन, बुद्धिकी प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती—यह अखण्ड नियम है। वास्तवमें सत्य भावनाओंसे अतीत है, परंतु अपवित्र भावनाओं (विषयोंकी गुलामी) को नष्ट करनेके लिये हृदयमें पवित्र भावनाएँ (जितेन्द्रियता, सदाचार, सेवा, त्याग) हर समय स्वाभाविक रूपसे रहनी चाहिये; क्योंकि सत्य कल्पवृक्षके समान है। जिस प्रकारकी भावनाएँ होती हैं, उसीके अनुरूप शक्तियाँ कर्तामें स्वयं आ जाती हैं, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। शरीरको अपना आपा समझनेमे अपवित्र भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और उससे भिन्न आत्मभावकी उपलब्धि होनेपर सारी अपवित्र

भावनाओंका अन्त हो जाता है तथा हृदय नित्यानन्दसे भर जाता है। जबतक हृदयसे विषयोंकी वासनाका अन्त नहीं होगा, तबतक जो हर कालमें अखण्ड, एकरस तथा आनन्दका केन्द्र है, उसका अनुभव कदापि नहीं हो सकता। वासनाओंका अन्त आत्मध्यानसे, आत्मध्यान त्यागसे, त्याग सेवासे और सेवा सदाचारसे ही सम्भव है।

वास्तवमें उसे ही अपना सच्चा जीवन समझना चाहिये, जो स्वाभाविकरूपसे, बिना यत्न किये जीवनका अङ्ग बन जाता है। सदाचार कहीं बाहरसे खरीदनेकी वस्तु नहीं है, वह तो अपने-आप उत्पन्न होनेकी वस्तु है। वह बुराइयों (विषयोंकी गुलामी) से ऊपर उठ जानेपर अपने आप उत्पन्न होता है। हृदयगत सद्भावनाओंको बाहरसे भरनेकी जो कोशिश की जायगी, वह स्थायी नहीं बन सकती अर्थात् वह जीवनका स्वरूप नहीं हो सकती और कच्चे रंगके समान किसी घटनाविशेषके घटित होते ही उड़ जाती है। इसलिये हर समय इस बातपर अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिये कि हृदयकी स्वाभाविक गति क्या है? और सरलताके साथ प्रत्येक कामको हृदयकी गतिके अनुकूल, पवित्रभावसे करनेका स्वाभाविक यत्न करना चाहिये। किसी बाहरी सहायताकी खोज कभी मत करो; क्योंकि बाहरी सहायता आत्मविश्वाससे विमुख करती है।

* * *

अध्ययन करनेवालोंको योग्यता-सम्पादनके लिये सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये; कारण शिक्षित होनेपर ही शिक्षार्थियोंकी उचित सेवा हो सकती है। शारीरिक योग्यता आदिका बल समाजके काम आता है, अपने नहीं। अपने काम तो एकमात्र निज ज्ञानका प्रकाश ही आता है, पर यह रहस्य कोई विरले ही जानते हैं। बल संसारके लिये, त्याग (ज्ञान) अपने लिये एवं आस्थाका तत्त्व प्रभुके लिये मिला है। बल्के सदुपयोगसे जगत्की सेवा करो और त्यागके द्वारा मुक्त हो जाओ एवं आस्था, श्रद्धा और विश्वासपूर्वक प्यारे प्रभुसे आत्मीय-सम्बन्ध स्वीकार कर भक्त हो जाओ। मानव-जीवन सभीके लिये उपयोगी है, यह इस जीवनकी महिमा है। इस वास्तविकतामें अविचल आस्था करो। जिन्होंने अपनी अहैतुकी कृपासे प्रेरित होकर मानवका निर्माण किया है, वे परम स्वतन्त्र, परम उदार एवं प्रेमसे भरपूर हैं। उन्होंने उन्हीं मूल तत्त्वोंसे मानवकी रचना की है। अतः मानव भी उदार, स्वाधीन तथा प्रेमसे भरपूर हो सकता है। यह तभी सम्भव है, जब जीवनका सत्य स्वीकार करो। अब स्वयं विचार करो कि जीवनका सत्य क्या है? क्या तुम निज ज्ञानके द्वारा यह अनुभव नहीं करते हो कि शरीर आदि किसी भी वस्तुके साथ न तुम सदैव रह सकते हो और न कोई वस्तु ही तुम्हारे साथ सदैव रह सकती है। इस वास्तविकतासे यह प्रकाश मिलता है कि प्रत्येक मानवको समस्त सृष्टिसे निर्मम (ममतारहित), निष्काम एवं असङ्ग होना अनिवार्य है। जिसे मानव स्वयं कर सकता है, जिसके लिये किसी भी पराश्रय एवं परिश्रमकी अपेक्षा नहीं है, जो तथ्य ज्ञानसे सिद्ध है, उसके अपनानेमें मानव स्वाधीन है। इतना ही नहीं, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदिसे निर्मम (ममतारहित) होनेपर ही उसके द्वारा यथा-शक्ति शरीर, परिवार, समाज और संसारकी सेवा हो सकती है। विधिवत् पवित्रभावसे की हुई सेवाका अन्त त्यागमें और त्यागकी पूर्णता बोधमें एवं बोधकी पूर्णता स्वयं प्रेममें हो जाती है। कर्तव्यपालनका फल योग है। योगकी पूर्णता होनेपर स्वतः बोध और बोधकी पूर्णतामें प्रेम निहित है। इस दृष्टिसे वर्तमान कर्तव्य-कर्मसे मानवको योग, बोध और प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। योगमें चिर-शान्ति, बोधमें मुक्ति एवं प्रेममें भक्ति निहित है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने बलका उपयोग जगत्के लिये, ज्ञानका अपने लिये और विश्वासका प्रभुके लिये किया है। कर्तव्यनिष्ठ, विवेकी और विश्वासी होकर ही मानव सभीके लिये उपयोगी होता है। जीवन किसीके लिये अनुपयोगी न हो, अपितु सभीके लिये उपयोगी हो जाय—इसमें मानव-जीवनकी सार्थकता एवं पूर्णता है। इस माँगको सबल बनाओ। माँगके सबल होनेसे कामका नाश और कामके नाशसे माँगकी पूर्ति स्वतः होती है। यह अनन्तका मङ्गलमय विधान है। विधानमें अविचल आस्था करना अनिवार्य है। जब मानव यह स्वीकार करता है कि मेरी वास्तविक माँग पूरी हो सकती है, तब माँग स्वयं सबल होकर कामको खाकर अपने-आप पूरी हो जाती है अर्थात् कामकी निवृत्ति, माँगकी पूर्ति एवं प्रेमकी प्राप्तिमें मानवमात्रका जन्मजात अधिकार है। इस सत्यमें विकल्प-रहित आस्था करो। इसके अतिरिक्त यदि किसीको कुछ और चाहिये तो वह सदाके लिये सबके लिये सम्भव नहीं है। जो सम्भव नहीं है, उसके लिये आवश्यकताका अनुभव करना भूल है। सजग मानव उसीकी आवश्यकताका अनुभव करते हैं, जो सभीके लिये सदाके लिये सम्भव है। भोग, मोह और आसक्तियोंकी निवृत्ति तथा योग, बोध, प्रेमकी प्राप्ति मानव-मात्रके लिये सम्भव है।

परमार्थकी पगडंडियाँ

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन)

भगवान्‌की निजजनपरायणताको समझो, सोचो और अनुभव करो

भगवान्‌को, उनकी सुहृदताको, उनकी प्रीतिको, उनके कभी न त्याग करनेवाले मधुरतम स्वभावको, केवल गुण ही देखकर सदा प्रसन्न रहनेवाली वृत्तिको, उनकी उदारता, सदाशयता, मधुरता, आत्मीयता, वत्सलता, प्रेमपरवशता, स्नेहशीलता, विशालहृदयता, कोमलता आदि सहज गुणोंका सदा स्मरण करके—उनकी अनुभूति करके प्रसन्न तथा आनन्दमग्न रहना चाहिये। भगवान्‌की महत्ता, महानुभावता, मधुरता, निजजनपरायणताको समझो, सोचो और अनुभव करो।

भगवान्‌की कृपापर विश्वास करो

प्रभुकृपा हम सभीपर है और वह नित्य ही अहैतुकी, अनन्त एवं केवल मङ्गलमयी है। उस कृपापर विश्वास हो जानेके बाद न कहीं अमङ्गल रह जाता है, न मानसिक कष्ट ही। फिर तो सर्वत्र सर्वदा उस मङ्गलमयी कृपाके ही दर्शन होते रहते हैं। भगवान्‌की कृपा स्वयं ही आशीर्वादमयी है और वह सबपर निरन्तर बरसती ही रहती है।

भगवान्‌की हम सभीपर इतनी महान् कृपा है कि कोई पार नहीं। हमारे चारों ओर सदा-सर्वदा कृपाका समुद्र लहरा रहा है। ऐसा अनुभव करना चाहिये—सभी ओर कृपाकी मधुर तरङ्गें लहरा रहीं हैं तथा हमारा चित्त कृपासिन्धुके प्रभावसे अत्यन्त शीतल, शान्त, मधुर तथा परम पवित्र हो रहा है।

भगवत्कृपासे ही विरह-ताप जागता है

भगवान् जिसपर विशेष कृपाका प्रकाश करते हैं, उसीका चित्त भगवान्‌के लिये व्याकुल तथा व्यथित होता है, उसीके हृदयमें भगवान्‌का विरह-ताप जागता है और पल-पलमें भगवान्‌की मधुर मनोहर स्मृति करवाकर आनन्दमहोदधिमें डुबाये रखता है।

भगवान्‌की चाह सदा पूरी होती रहे

होगा तो वही, जो प्रभुने रच रखा है—'करी गोपालकी सब होय।' हमारे मनकी बात वे प्रभु सब जानते ही हैं, पर पूरी करते उसीको हैं, जो उनके मन भाती है; और जो उनके मन भावे, वही सदा ठीक है। उनकी चाह सदा पूरी होती रहे।

भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कठिन नहीं है

भगवान्‌के प्रेम, भक्ति तथा सबमें भगवान्‌के देखनेकी वृत्तिको दुर्लभ तो क्या कठिन भी नहीं मानना चाहिये। हमारी साधनासे वे भले ही बड़े कठिन हों, पर भगवान्‌की कृपा तो सारी कठिनाइयोंको आसान बना देती है।

प्रेमी जनोंके वशमें रहना भगवान्‌को प्रिय है

भगवान् अपने प्रेमी जनको नित्य ही अपने हृदयमें बसाये रखते हैं। इसीमें उनको विलक्षण सुख मिलता है। वे परम सहज स्वतन्त्र भी नित्य परतन्त्र रहना सुखमय समझते हैं। इसीसे वे सदा प्रेमी जनोंके वशमें रहते हैं।

भगवान्‌का बन जानेपर दुःख नहीं रहता

भगवान्‌के प्रति जिसका जीवन समर्पित हो गया है अथवा जो भगवान्‌का—आनन्दमय भगवान्‌का अपना बन गया है, उसको कभी किसी भी अवस्थामें दुःख क्यों होना चाहिये ?

श्रीश्यामसुन्दरमें ही सारा राग रहे

जगत्‌के राग-द्वेषकी बातोंको भूल जाओ। अपनेको उससे क्या मतलब है ? केवल एकमात्र श्रीश्यामसुन्दरमें ही सारा राग रहे और श्रीश्यामसुन्दरकी विस्मृतिसे ही द्वेष रहे।

मनको भगवान्‌में ही लगाये रखना चाहिये

भगवान्‌में ही मन लगाये रखना चाहिये। जगत् नश्वर, क्षणभङ्गुर तथा सर्वथा दुःखमय है। इससे सुखकी आशा रखना ही दुःखको बुलाना है।

मनका मिलन ही महत्त्व रखता है। शरीर कहीं भी रहे, मन निरन्तर भगवान्‌में रमा रहे—यह प्रयत्न होना चाहिये।

मनन-ध्यानकी भी आवश्यकता है

सत्सङ्गके साथ ही एकान्तमें मनन-ध्यानकी भी तो आवश्यकता है। केवल सुने-ही-सुने, सोचे-विचारे नहीं, तो यथार्थ लाभ नहीं होता। एकान्तमें रहकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌की संनिधिका अनुभव करना चाहिये। यह निश्चित समझना चाहिये कि भगवान् सदा तुम्हारे पास रहते हैं; उनका स्वभाव ही ऐसा है।

सदा प्रसन्न—शान्त रहना चाहिये

मनुष्यका स्वभाव सदा उसके साथ रहता है। जब हम दूसरेके मनकी बात पूरी नहीं कर सकते, तब दूसरा हमारी बात स्वीकार कर ले, यह आशा ही हमें क्यों करनी चाहिये ? अतएव परिस्थिति तथा मानवस्वभावकी दुर्बलताको समझकर सदा प्रसन्न—शान्त रहना चाहिये।

भगवान् सच्ची चाहको अवश्य पूरी करते हैं

श्रीराधामाधवमें नित्य मन लगा रहे, तुम्हारी यह चाह बहुत ही उत्तम है। वे सच्ची चाहको अवश्य पूरी करते हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

शुद्ध दवाका सेवन करनेमें आपत्ति नहीं है

रोगकी अवस्थामें पथ्य और परहेजका पूरा ध्यान रखते हुए विश्वासपूर्वक शुद्ध दवाका सेवन करना चाहिये। यह नहीं मानना चाहिये कि अमुक रोगसे मेरी मृत्यु हो जायगी। भीषण रोगोंसे तथा बहुत अधिक निराशापूर्ण स्थितिमें पहुँचे हुए लोगोंको स्वस्थ होकर वर्षों जीवित रहते देखा-सुना गया है; अतएव जीवनसे निराश नहीं होना चाहिये। चित्तमें उत्साह रखना चाहिये, परंतु साथ ही मृत्युके लिये सर्वथा और सर्वदा तैयार रहना चाहिये, आपको ही नहीं, नीरोग मनुष्योंको भी।

भगवान्‌के दिव्य विग्रहमें वस्त्राभूषणका भी स्थान है

वस्त्र और आभूषणादि अनादि कालसे हैं। अवश्य ही समय-समयपर इनके रूप बदलते रहते हैं। आभूषणोंमें कई आवश्यक हैं तथा शारीरिक और मानसिक रक्षा एवं उन्नतिके उद्देश्यसे धारण किये जाते

हैं। साथ ही भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके आभूषण उपयोगी सिद्ध होते हैं। यही कारण है कि विभिन्न आश्रम और वर्णके स्त्री-पुरुषों, बालक, युवा, वृद्ध और सधवा-विधवाके आभूषणोंमें भेद है। वस्त्राभूषण केवल श्रृङ्गारके लिये नहीं हैं, उनके उपयोगका बड़ा रहस्य है। हमलोग उस रहस्यको नहीं जानते और श्रृङ्गारकी दृष्टिसे ही उनका उपयोग करते हैं। परंतु श्रृङ्गारके लिये—दूसरोंको अपना रूप दिखलानेके लिये वस्त्राभूषण धारण करना अत्यन्त हानिकारक है और पापका कारण होता है। वस्त्राभूषणके प्रति अनासक्त होकर, उनके तत्त्वको समझकर यथायोग्य रीतिसे उनका प्रयोग करना ही उचित और आवश्यक भी है। आजकल वस्त्राभूषण धारण करनेका जो भाव है, उसका कारण श्रृङ्गार, बाह्य सौन्दर्य, फैशन तथा इन्द्रियोंका दासत्व ही है।

भगवान्के दिव्य विग्रहमें वस्त्राभूषण रहना न तो भक्तोंकी कल्पना है और न अनावश्यक है। अतः भगवान्के उपासकके लिये यह उचित है कि वह अपने उपास्य देवके ध्यानके अनुसार उनके श्रीविग्रहको वस्त्राभूषणसे सुसज्जित करे। सधवा स्त्रीको उचित है कि वह अपने पतिदेवकी शुद्ध रुचिके अनुसार केवल उनकी प्रसन्नताके लिये घरकी स्थिति देखकर आभूषणादि धारण करे, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। श्रृङ्गारकी दृष्टिसे अलंकार आदिका त्याग ही करना उत्तम है।

श्रीराधा-माधवका अलौकिक सहज प्रेम

प्रेममूर्ति श्रीराधाके अलौकिक सहज प्रेमके सम्बन्धमें मैं क्या लिखूँ ? श्रीराधाका मादनाख्य महाभावरूप प्रेम अत्यन्त गौरवमय होनेपर भी मदीयतामय मधुर स्नेहसे आविर्भूत होनेके कारण सर्वथा ऐश्वर्य-गन्ध-शून्य है। वह न तो अपनेमें गौरवकी कल्पना करता है न गौरवकी कामना ही। सर्वोपरि होनेपर भी वह अहंकारादिदोष-लेशसे शून्य है। यह मादनाख्य महाभाव ही राधा-प्रेमका एक विशिष्ट रूप है। श्रीराधाजी इसी भावसे आश्रयनिष्ठ प्रेमके द्वारा प्रियतम श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं। उन्हें उसमें जो महान् सुख मिलता है, वह सुख श्रीकृष्ण 'विषय' रूपसे श्रीराधाके द्वारा सेवा प्राप्त करके जिस प्रेमसुखका अनुभव करते हैं, उससे अनन्तगुना अधिक है। अतएव श्रीकृष्ण चाहते हैं कि 'मैं प्रेमका 'विषय' न होकर 'आश्रय' बनूँ, अर्थात् मैं सेवाके द्वारा प्रेम प्राप्त करनेवाला 'विषय' हीन बनकर सेवा करके प्रेमदान करनेवाला भी बनूँ। मैं आराध्य ही न बनकर, आराधक भी बनूँ।' इसीसे श्रीकृष्ण नित्य श्रीराधाके आराध्य होनेपर भी स्वयं उनके आराधक बन जाते हैं। जहाँ श्रीकृष्ण प्रेमी हैं, वहाँ श्रीराधा उनकी प्रेमास्पदा हैं और जहाँ श्रीराधा प्रेमिकाके भावसे आविष्ट हैं, वहाँ श्रीकृष्ण प्रेमास्पद हैं। दोनों ही अपनेमें प्रेमका अभाव देखते हैं और अपनेको अत्यन्त दीन और दूसरेका ऋणी अनुभव करते हैं; क्योंकि विशुद्ध प्रेमका यही स्वभाव है।

कभी श्रीकृष्ण श्रीराधाको अपनी प्रेमास्पदा मानकर उन्हें प्रेमकी स्वामिनी और अपनेको प्रेमका कंगाल स्वीकार करते हैं और कभी श्रीराधा अपनेको अत्यन्त दीना और श्रीकृष्णको प्रेमके धनीरूपमें स्वीकार करती हैं। दोनोंके पारस्परिक प्रेमोद्गाररूपमें दो पद यहाँ दिये जा रहे हैं, जिनमें प्रेमिगत दैन्य और प्रेमास्पदकी महत्ताका उत्तरोत्तर विकास दर्शनीय है।

श्रीकृष्णके प्रेमोद्गार—श्रीराधाके प्रति

राधिके ! तुम मम जीवन-मूल।

अनुपम अमर प्रान-संजीवनि, नहिं कहुँ कोउ समतूल ॥

हे प्यारी राधिके ! तुम मेरे जीवनकी मूल हो, मेरे प्राणोंकी अनुपम, अमर संजीवनी हो। तुम्हारे समान दूसरी कोई कहीं नहीं है।

जस सरीरमें निज-निज थानहिं सबही सोभित अंग।
किंतु प्रान बिनु सबहि ब्यर्थ, नहिं रहत कतहुँ कोउ रंग॥
तस तुम प्रिये! सबनि के सुख की एकमात्र आधार।
तुम्हरे बिना नहीं जीवन-रस, जासौं सब कौ प्यार॥

जैसे शरीरमें अपनी-अपनी जगह सभी अङ्ग शोभा देते हैं, परंतु प्राणोंके बिना सभी व्यर्थ हैं; किसीमें कहीं कोई शोभा नहीं रह जाती, उसी प्रकार हे प्यारी! सबके सुखकी एकमात्र आधार तुम ही हो। तुम्हारे बिना जीवनमें कोई रस नहीं रह जाता, जिस (जीवन) को सब कोई प्यार करते हैं।

तुम्हरे प्राननि सौं अनुप्रानित, तुम्हरे मन मनवान।
तुम्हरौ प्रेम-सिंधु-सीकर लै करौं सबहि रसदान॥

मेरे प्राण तुम्हारे प्राणोंसे ही संचालित रहते हैं, तुम्हारे मनसे ही मैं मनवान् बना हूँ—तुम्हारे मनसे ही मेरे मनकी सत्ता है। तुम्हारे प्रेमरूपी समुद्रकी एक बूँदको ही लेकर मैं सबको रसदान करता हूँ।

तुम्हरे रस-भंडार पुन्य तैं पावत भिच्छुक चून।
तुम सम केवल तुमहि एक हौ, तनिक न मानौ ऊन॥

तुम्हारे पुण्यमय—पवित्र रस-भंडारसे ही सभी भिक्षुक चून—रस-कण प्राप्त करते हैं, सबको रस वहींसे मिलता है। तुम्हारे समान तो एकमात्र तुम्हीं हो, इसमें तुम तनिक भी कसर मत समझो।

सोऊ अति मरजादा, अति संभ्रम-भय-दैन्य-सँकोच।
नहिं कोउ कतहुँ कबहुँ तुम-सी रसस्वामिनि निस्संकोच॥

इस प्रकार मैं तुम्हारे ही रस-भंडारमेंसे रस-दान करता हूँ, परंतु उसमें बड़ी ही मर्यादा, बड़ा संयम, भय, दीनता और संकोच बना रहता है (मुक्तहस्तसे—उदारतापूर्वक नहीं कर सकता)। तुम-जैसी संकोच छोड़कर रस बाँटनेवाली उदार रसकी स्वामिनी तो एक तुम ही हो, दूसरी कोई कहीं, कभी नहीं है।

तुम्हरौ स्वत्व अनंत नित्य, सब भाँति पूर्न अधिकार।
कायव्यूह निज रस-बितरन करवावति परम उदार॥

फिर मुझपर तो तुम्हारा नित्य अनन्त स्वत्व है—कभी नहीं हटनेवाला हक है (मैं तो सदा तुम्हारी ही सम्पत्ति हूँ)। अतएव मुझपर सभी प्रकारसे तुम्हारा पूरा अधिकार है। (इसीसे मुझको निमित्त बनाकर) तुम अपनी कायव्यूहरूप—अङ्गस्वरूपा गोपीजनोंके द्वारा परम उदार होकर खुले हाथों रसका वितरण करवाती हो—रस बँटवाती रहती हो।

तुम्हरी मधुर रहस्यमई मोहनि माया सौं नित्य।
दच्छिन बाम रसास्वादन हित बनतौ रहूँ निमित्त॥

मैं तो यही चाहता हूँ कि तुम्हारी रहस्यमयी, मेरे जीवनको सदा मुग्ध रखनेवाली मीठी मायाके—रसमयी प्रीतिके वशीभूत रहकर मैं तुम्हारे दक्षिण और वाम—दोनों प्रकारके भावोंके रसास्वादनमें निमित्त बनता रहूँ।

श्रीकृष्णका यह प्रेम-निवेदन सुनकर श्रीराधा कहती हैं—

श्रीराधाके प्रेमोद्गार—श्रीकृष्णके प्रति

हौं तो दासी नित्य तिहारी।

प्राननाथ जीवन-धन मेरे, हौं तुम पै बलिहारी।

प्राणनाथ! मैं तो तुम्हारी नित्य दासी—सदाकी चेरी हूँ। तुम मेरे प्राणोंके स्वामी तथा जीवन-सर्वस्व हो, मैं तुमपर बलिहारी हूँ—न्यौछावर हूँ।

चाहें तुम अति प्रेम करौ, तन-मन सौं मोहि अपनाऔ।

चाहें द्रोह करौ, त्रासौ, दुख देइ मोहि छिटकाऔ॥

चाहे तुम मुझसे अत्यन्त प्रेम करो, शरीर और मनसे मुझको अङ्गीकार करो अथवा द्रोह करो, त्रासो, दुःख देकर मुझको छोड़-छिटका दो।

तुम्हरौ सुख ही है मेरौ सुख, आन न कछु सुख जानौं।

जो तुम सुखी होउ मो दुख में, अनुपम सुख हौं मानौं॥

तुम्हारा सुख ही मेरा सुख है, दूसरा कोई सुख मैं रञ्चमात्र भी नहीं जानती। यदि तुम मेरे दुःखमें सुखका अनुभव करो तो (तुमको सुखी देखकर) उस दुःखमें मैं ऐसे महान् सुखका अनुभव करूँ जिसकी कहीं उपमा नहीं।

सुख भोगौं तुम्हरे सुख कारन, और न कछु मन मेरे।

तुमहिं सुखी नित देखन चाहौं निसि-दिन साँझ-सबेरे॥

मैं जो सुख बिलसती हूँ वह भी तुम्हारे सुखके कारण ही; मेरे मनमें दूसरे सुखकी कल्पना ही नहीं। मैं तुमको नित्य—संध्यासे सवेरेतक और सवेरेसे संध्यातक—रात-दिन सुखी देखना चाहती हूँ।

तुमहि सुखी देखन हित हौं निज तन-मन कौं सुख देऊँ।

तुमहि समरपन करि अपने कौं नित तव रुचि कौं सेऊँ॥

तुमको सुखी देखनेके लिये ही मैं अपने शरीर और मनको सुखी रखती हूँ—मुझे सुखी देखकर तुमको सुख होता है, इसी कारण मैं शरीर और मनसे सुखी रहती हूँ। अपने-आपको तुम्हें अर्पण करके मैं सदा तुम्हारी रुचिका ही सेवन करती हूँ।

तुम मोहि 'प्रानेस्वरि', 'हृदयेस्वरि', 'कांता' कहि सुख पावौ।

यातैं हौं स्वीकार करौं सब, जदपि मन सकुचावौं॥

तुम मुझको 'प्राणेश्वरी', 'हृदयकी स्वामिनी' 'कान्ता' (प्यारी) कहकर सुख प्राप्त करते हो, इसीसे मैं इन सब सम्बोधनोंको स्वीकार कर लेती हूँ, ग्रहण कर लेती हूँ, यद्यपि इन शब्दोंको सुनकर मुझको मनमें बहुत संकोच होता है—संकोचके मारे मैं गड़ जाती हूँ।

—इन दोनों पदोंपर गम्भीरतासे विचार करना चाहिये; इनसे श्रीराधा-माधवके प्रेमका कुछ मर्म समझा जा सकता है। (अप्रकाशित पत्रोंसे)
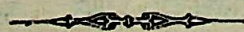
श्रीभागवतामृत—२

[प्रभुपाद श्रीराधाविनोद गोस्वामीद्वारा उद्भावित श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धके प्रथम अध्यायकी भागवतामृतवर्षिणी बंगलाटीकाका भावानुवाद]

(अनुवादक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी)

(गताङ्कमें राजा परीक्षित्‌के द्वारा नाना प्रकारकी युक्तियोंकी अवतारणापूर्वक यह प्रार्थना की गयी है कि 'श्रीकृष्ण-कथा मुक्त, मुमुक्षु, भक्तिके इच्छुक तथा विषयी—सबके लिये श्रवणीय है, अतः आप इस कथाको प्रकाशित करनेमें संकोच न करें।' अब यह निवेदन करते हैं कि 'जो बहिर्मुख जीव हैं, उनकी उस बहिर्मुखताको दूर करनेका उपाय भी श्रीकृष्णकथा-श्रवण ही है, अतः सबके कल्याणकी दृष्टिसे आप इस कथाको हम सबके समक्ष अवश्य प्रकट करें।')

वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।
प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्॥

(श्रीमद्भा० १०।१।७)

अन्वयः—विद्वन् (हे कृष्णलीलार्थतत्त्वज्ञ), अखिलदेहभाजाम् (सर्वेषां प्राणिनाम्), अन्तर्बहिः (अन्तश्च बहिश्च), पूरुषकालरूपैः (अन्तर्यामिरूपैः यमादिरूपैश्च स्थित्वा), मृत्युम् उत अमृतम् (बहिर्दृष्टीनां यमादिरूपैः संसार-दुःखम्, अन्तर्दृष्टीनाम् अन्तर्यामिरूपैः मोक्षादिकम्), प्रयच्छतः (ददतः), तस्य (मत्कुलैकगतेः मम जीवनरक्षकस्य च), मायामनुष्यस्य (माययैव प्राकृतमनुष्यतया प्रतीतस्य श्रीकृष्णस्य), वीर्याणि (स्वच्छन्दचरितानि), वदस्व (गुह्यान्यपि प्रकाशय)॥ ७॥

मूलानुवाद—हे विद्वन्! जो सब जीवोंके भीतर और बाहर पुरुष और कालरूपमें अवस्थित होकर अन्तर्दृष्टि जीवोंको मोक्ष और बहिर्दृष्टि जीवोंको सांसारिक दुःख प्रदान करते हैं, उन मेरे कुलदेवता श्रीगोविन्दकी लीला-कथाका आप मुझसे वर्णन करें।

श्रीभागवतामृतवर्षिणी—महाराज परीक्षित्‌ने श्रीकृष्ण-लीलाकथा-श्रवण करनेकी लालसासे श्रीशुकदेवजीके निकट श्रीकृष्णलीला-विषयक प्रश्न किया है तथा नाना प्रकारकी युक्ति और तर्ककी अवतारणा करके समर्थन किया है कि मुक्त, भक्तीच्छु (भक्तिके इच्छुक), मुमुक्षु तथा विषयी आदि कोई भी क्यों न हो, उसके लिये श्रीकृष्णलीलाकथाको श्रवण करना परम कर्तव्य है। श्रीकृष्णलीलाकथा मुक्तके लिये मोक्षसुख है। भक्तीच्छु तथा मुमुक्षुके लिये भक्ति और मुक्तिका साधन है तथा विषयीके लिये विषय-सेवा-महायज्ञकी पूर्णाहुति है। श्रीकृष्ण महाराज परीक्षित्‌के कुल-देवता तथा जीवन-रक्षक हैं, अतएव महाराज परीक्षित्‌के लिये उनकी लीलाकथाको श्रवण करना परम कर्तव्य है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

यहाँ विचारणीय यह है कि श्रीकृष्णलीलाकथा मुक्त, भक्तीच्छु आदि सबके लिये अत्यन्त आदरकी वस्तु है और महाराज परीक्षित्‌के समान श्रीकृष्णके साथ सम्बन्धित भक्तोंके लिये निःसंदेह प्राणप्रिय वस्तु है, परंतु ऐसी अवस्थामें भी यह परम गोपनीय वस्तु जहाँ-तहाँ प्रकट नहीं की जा सकती। बहिर्मुख जीवका यह स्वभाव होता है कि वह अलौकिक वस्तुको भी लौकिक जगत्‌में लाकर अपने-जैसा बनाकर आस्वादन करना चाहता है। श्रीकृष्णकी लीला अलौकिक होनेपर भी लौकिक जगत्‌के अनुरूप प्रकट हुई है, अतएव उसे लौकिक रूपमें ग्रहण करके नरकका द्वार उन्मुक्त करना बहिर्मुख जीवके लिये कठिन नहीं है। इसी कारण गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(९।११)

'मुझसे पृथक्, बहिर्मुख जीव मेरे तत्त्व और लीलारहस्य-को न जानकर मेरी नरलीलाके माधुर्यको ग्रहण न कर सकनेके

कारण प्राकृत बुद्धिसे मेरी अवज्ञा करते हैं।' अतएव महाराज परीक्षित्के प्रश्न करनेपर भी गङ्गातटकी साधारण सभामें श्रीशुकदेवजीके लिये इस परम गोपनीय लीलाकथाको न कहना ही ठीक था। इसी कारण महाराज परीक्षित्ने 'वीर्याणि तस्य' आदि श्लोकमें श्रीकृष्णके स्वरूपका वर्णन करके बहिर्मुख जीवोंकी श्रीकृष्णलीलाकथाके श्रवणकी प्रवृत्तिको बतलानेकी चेष्टा की है। महाराज परीक्षित्का कहना यही है कि 'दुर्भाग्यवश जो बहिर्मुख हैं, उनके लिये श्रीकृष्णकी लीला-कथाको श्रवण करना नितान्त आवश्यक है। नहीं तो बहिर्मुख-का बहिर्मुखतादोष दूर कैसे होगा? विशेषतः श्रीकृष्णकी लीलाकथाको श्रवण न करनेसे बहिर्मुखता और भी बद्धमूल हो जायगी तथा श्रवण करनेपर उसके क्रमशः शिथिल होनेपर अन्तर्मुखता आ जायगी।'

महाराज परीक्षित् श्रीशुकदेवजीसे बोले—'हे विद्वन्! अर्थात् श्रीकृष्णलीलार्थतत्त्वज्ञशिरोमणे! श्रीकृष्णलीलाका तत्त्व मैं क्या जानूँ? आप प्रतिदिन इस लीलाके मननमें सर्वथा परिपूर्ण हैं, तथापि बहिर्मुख जीवोंके श्रवणोत्साहकी वृद्धिके लिये कहता हूँ कि श्रीभगवान् सब जीवोंके, यही क्या, सब वस्तुओंके भीतर और बाहर विद्यमान हैं। श्रीभगवान्की यह अन्तःस्थित मूर्ति प्रत्येक जीवके हृदयमें अवस्थित होनेके कारण वह 'पुरुष' नामसे तथा बहिःस्थित मूर्ति सर्वभूतोंका 'कलन' अर्थात् संसाररूपमें ग्रास करनेके कारण 'काल' नामसे अभिहित होती है। श्रीभगवान्की पुरुषमूर्ति सच्चिदानन्दमय और कालमूर्ति मायामय है। अनादि बहिर्मुख जीव श्रीभगवान्की सच्चिदानन्दमय अन्तःस्थ मूर्तिकी ओर दृष्टिपात न करके बहिःस्थित मायिक मूर्तिमें आसक्त होकर पुनः-पुनः जन्म-मृत्युका ग्रास बनता है। सौभाग्य और सत्संगवश यदि कभी श्रीभगवान्की लीलाकथाके श्रवणादि रूपसे वह उनका भक्तिपूर्वक यजन कर सके तो बाह्य दृष्टि क्रमशः अन्तः (भीतर) की ओर लौटेगी और वह जन्म-मृत्युके हाथसे छुटकारा पाकर पूर्ण अमृतास्वादन कर कृतार्थ हो जायगा।'

अथवा श्रीभगवान् अपनी त्रिपाद्विभूतिके अन्तःस्थ श्रीवैकुण्ठादि धाममें 'पुरुष' अर्थात् नारायणादिरूपमें तथा बहिःस्थित ब्रह्माण्डमें 'काल' अर्थात् यम आदिके रूपमें विराजित होकर बहिर्मुख जीवको यमादि रूपमें सांसारिक दुःख तथा कथाश्रवणादिद्वारा पवित्रहृदय भक्तजनको नारायणादि रूपमें श्रीवैकुण्ठधाम अथवा स्वचरणारविन्दका प्रेम प्रदान कर कृतार्थ करते हैं।

श्रीभगवान्के मोक्ष और सांसारिक दुःख-प्रदानके साथ पुरुष और कालरूपका सम्बन्ध न रखकर भी इस श्लोकके रसका आस्वादन किया जा सकता है। उसमें श्रीभगवान्का एक अभिनव लीला-माधुर्य आस्वादित होता है। इस प्रकार श्लोकका आस्वादन करनेके लिये 'अखिलदेहभाजाम् अन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः स्थितस्य मृत्युम् उत अमृतम् च प्रयच्छतः" अर्थात् 'जो सब जीवोंके भीतर और बाहर अवस्थित हैं तथा जो स्वेच्छासे सब जीवोंको यथायोग्य सांसारिक दुःख अथवा मोक्षसुख प्रदान करते हैं'—इस प्रकार पृथक् अन्वय करके भाव समझना चाहिये। श्रीभगवान् सब जीवोंके भीतर और बाहर अवस्थित हैं, इस तत्त्वको समझनेके लिये—

> विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः।
> एकं तु महतः स्रष्टृ द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्॥
> तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा प्रमुच्यते॥

'सर्वव्यापक श्रीभगवान् जगत्के मूल कारण प्रकृतिके ईक्षणकर्ता (प्रथम पुरुष) रूपमें, ब्रह्माण्डके अन्तर्यामी (द्वितीय पुरुष) रूपमें तथा सब भूतोंके अन्तर्यामी (तृतीय पुरुष) रूपमें विराजित हैं। उनके इन तीन रूपोंका तत्त्वज्ञान होनेसे जीवका भवबन्धन छूट जाता है।' 'सात्वततन्त्र'का यह वचन ही उत्कृष्ट प्रमाण है। श्रीभगवान् स्वेच्छासे सब जीवोंको मृत्यु या अमृतत्व प्रदान करते हैं, इस तत्त्वको समझनेके लिये उनकी लीलाका अनुसंधान करनेपर देखनेमें आता है कि भीष्म-द्रोण आदिकी मृत्यु अति दुर्घट थी; क्योंकि भीष्मकी मृत्यु इच्छाधीन थी और कण्ठतालु-भेद होकर ब्रह्मरन्ध्र-भेद हुए बिना द्रोणाचार्यकी मृत्यु नहीं होनेवाली थी। परंतु श्रीभगवान्ने अर्जुनके सारथिके रूपमें निर्देशमात्रसे उनको भी मृत्युके मुँहमें डाल दिया। कंस, दन्तवक्र, शिशुपाल आदिके चरित्रकी आलोचना करनेपर जान पड़ता है कि इस प्रकारके बहिर्मुख जीवोंको कोटि जन्मोंमें भी भवसे त्राण नहीं मिलनेवाला था; किंतु श्रीभगवान्ने उनको भी मुक्ति प्रदान की। श्रीभगवान्की अमृतप्रद लीलाका पर्यवसान केवल मोक्ष-सुख प्रदान करनेमें ही नहीं होता, श्रीभगवान्ने पूतना आदि राक्षसियोंको प्रेमदान करके दिखला दिया कि मानवबुद्धिसे

जिसको समझ पाना नितान्त असम्भव है, ऐसी लीला भी उनको प्रिय थी। उनकी कृपा होनेपर पूतनाके समान हिंसा-द्वेषादिसे कलुषितहृदया राक्षसीको भी प्रेमामृतपानका अधिकार प्राप्त हुआ।

महाराज परीक्षित्ने श्रीभगवान्की लीलाकथा सुननेके लिये लालायित होकर श्रीभगवान्के स्वरूपका वर्णन किया कि 'वे सब जीवोंके भीतर और बाहर पुरुष और कालरूपमें अवस्थित हैं तथा वे सब जीवोंको मृत्यु और अमृत प्रदान करतेहैं।' महाराज परीक्षित्के द्वारा इस प्रकार श्रीभगवान्के स्वरूप-वर्णनका उद्देश्य यह है कि उन्होंने मन-ही-मन सोचा—मैं यदि सहस्रों प्रश्न करूँ तो भी परमहंस-शिरोमणि श्रीशुकदेवजी बहिर्मुख जनके सामने कदापि श्रीगोविन्दकी परम निगूढ़ लीलाकथाका वर्णन नहीं करेंगे। अतएव मेरा प्रश्न करना मात्र ही शेष रह जायगा, मेरे भाग्यमें जान पड़ता है, सुनना नहीं लिखा है। फिर दूसरे ही क्षण उन्होंने सोचा यदि किसी उपायसे बहिर्मुख जनमें श्रवण-प्रवृत्ति उत्पन्न कर सकूँ तो श्रीशुकदेवजी कृपापूर्वक परम मधुर श्रीगोविन्द-लीलाकथा कह सकते हैं। बहिर्मुख जन महाभयमें पड़नेपर विवश होकर श्रीकृष्णका भजन कर सकते हैं, अन्यथा वे लोग प्रेमी भक्तोंके समान सर्वथा उद्देश्यविहीन होकर आदरणीय वस्तुके रूपमें कदापि श्रीकृष्णका भजन नहीं कर सकेंगे। इसी कारण महाराज परीक्षित्ने 'श्रीभगवान् पुरुषरूपमें अन्तर्मुख जीवोंको स्वचरणामृत-प्रदानरूप अनुग्रह तथा बहिर्मुख जीवोंको कालरूपमें संसार-विष-प्रदानरूप निग्रह करते हैं'—इस प्रकार वर्णन किया है। यह बात सुनकर बहिर्मुख जीव संसार-भयसे भीत होकर श्रीगोविन्द-कथा-श्रवणके लिये उन्मुख होंगे, इसमें संदेह नहीं है।

महाराज परीक्षित्ने श्रीकृष्ण-लीला-कथा-श्रवणके लिये उत्सुक होकर प्रश्न करते समय **'श्रीकृष्णस्य चरितानि वदस्व'**—'श्रीकृष्णके लीला-चरित्रोंका वर्णन करें' यह बात न कहकर **'माया-मनुष्यस्य चरितानि वदस्व'**—'उस माया-मनुष्यके चरित्रोंका वर्णन करें,' यह बात कहकर श्रीकृष्ण-लीलाकी एक निगूढ़ चमत्कारिताकी ओर संकेत किया है। 'माया-मनुष्य' शब्दकी आलोचना करनेपर नाना प्रकारके अर्थ और सिद्धान्तकी स्फूर्ति होगी और भक्तहृदय आनन्दके प्रवाहमें डूब जायगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। 'माया-मनुष्य' शब्दका अर्थ है—**'मायया एव मनुष्यः प्राकृत-मनुष्यतया प्रतीतः'**। श्रीकृष्णका श्रीवृन्दावनमें जन्म, यशोदाका स्तनपान करके दिन-दिन वृद्धिको प्राप्त होना, मृत्तिका-भक्षण, नवनीत-चोरी आदि बाल्यलीला, व्रज-बालकोंके साथ गोष्ठमें जाना, गौओंको चराना, हास्य, लास्य, नृत्य, कूदना आदि लीलाकथा सुननेसे आपाततः जान पड़ता है कि वे हमारे-जैसे मनुष्य ही थे, परंतु उनके चरणोंके शरणापन्न होकर तनिक विचार करनेसे ज्ञात होता है कि यह मधुरलीला आपाततः प्राकृत जनके समान जान पड़नेपर भी प्राकृतधर्मसे अतीत है। परंतु मायाहत जीव इस लीलाके अप्राकृत अंशको ग्रहण न कर सकनेके कारण इसको प्राकृतरूपमें ही समझता है। कंस, दन्तवक्र, शिशुपाल आदि असुरगण तथा उनके परवर्ती कालसे वर्तमानकाल-पर्यन्त उनके सजातीय भावापन्न बहिर्मुख जीवगण इस लीलाको प्राकृतरूपमें ही समझते आ रहे हैं। वे हमलोगोंके समान मनुष्य नहीं हैं तथापि माया अपने अधीनस्थ जीवोंके मनमें उनके विषयमें मनुष्य होनेकी धारणा पैदा कर देती है। अतएव वे 'माया-मनुष्य' हैं। इस व्याख्यासे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मायाके अधीन रहकर मायिक बुद्धिसे कोई भी इस लीलाके अप्राकृत रूपको कदापि हृदयंगम नहीं कर सकता।

प्रकारान्तरसे 'माया-मनुष्य' शब्दकी आलोचना करनेसे ज्ञात होता है कि **'मायया तादृशमनुष्यत्वप्रकाशिकया माययापि अमनुष्यस्य'**—अर्थात् श्रीभगवान् अपने भक्तोंके साथ पुत्र, सखा, प्राणवल्लभ आदि सम्बन्धमें आबद्ध होकर उनके प्रेमरसका आस्वादन करनेके लिये निजशक्ति योगमायाके द्वारा उनकी बुद्धिको आच्छादित करके मनुष्य-रूपमें प्रतीत होनेकी चेष्टा करते हैं; परंतु उसमें भी उनका मनुष्यातीत भाव रहता है, जो लीला-विशेषके रूपमें प्रकट हो जाता है। श्रीवृन्दावन-लीलामें ब्रह्माको मोहमें डाल देना, इन्द्रके दर्पको चूर्ण करना, वरुणलोकमें जाकर वरुणकृत पूजा आदि ग्रहण करना—इत्यादि लीलाओंमें उनका मनुष्यातीत भाव प्रकट हो गया है। अतएव स्पष्ट जान पड़ता है कि वे योगमायाके द्वारा मनुष्यातीत भावको दबाकर भक्तका आनन्द बढ़ानेके लिये अपने मनुष्यातीत स्वरूपसे योगमायाके आवरणको दूर करके लीलाके अवसरपर आत्म-प्रकाश करते हैं।

'विश्वप्रकाश' कोशमें लिखा है—**'माया दम्भे कृपायां**

च'—अर्थात् 'माया' शब्दका अर्थ दम्भ और कृपा भी है। 'माया' शब्दका कृपा अर्थ करके 'माया-मनुष्य' शब्दकी आलोचना करनेपर एक और अभिनव चमत्कार दीख पड़ता है 'मायया कृपया मनुष्यः—प्रकटितनराकारः' । जिसने जगत्‌के जीवोंके प्रति कृपा करके नराकृतिमें परब्रह्म-स्वरूपको प्रकट किया है, वह 'माया-मनुष्य' है। 'आत्मा वा इदमग्र आसीत् पुरुषविधः'—'अनन्तकोटि ब्रह्माण्डकी सृष्टिके पूर्व पुरुषविध अर्थात् नराकृति परमात्मा विराजमान थे।'— इस उपर्युक्त श्रुतिप्रमाणसे तथा—

> वत्सैर्वत्सतरीभिश्च सरामो बालकैर्वृतः ।
> वृन्दावनान्तरगतः सदा क्रीडति कंसहा ॥

—कंसनिषूदन श्रीगोविन्द बलदेव, गोपबालक तथा गोवत्स आदिके साथ वृन्दावनमें नित्य विहार करते रहते हैं—इस स्कन्दपुराणके वचनसे तथा अन्यान्य अनेक श्रुति, पुराण, साहित्य आदिके वचनोंसे ज्ञात होता है कि श्रीभगवान् नराकृति परब्रह्मरूपमें प्रपञ्चातीत धाममें नित्य लीला करते रहते हैं। श्रीभगवान्‌की अनन्त लीलाएँ हैं, तथापि यह लीला ही सर्वोत्तम है। यथा—

> **कृष्णेर यतेक खेला, सर्वोत्तम नरलीला, नरवपु ताँहार स्वरूप ।**
> **गोपवेष वेणुकर, नवकिशोर नटवर, नरलीलार हय अनुरूप ॥**

—इस 'चैतन्य-चरितामृत' के वचनसे तथा 'यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्'— जगत्‌के जीवोंको अपनी योगमायाका वैभव दिखलाकर कृतार्थ करनेके लिये नरलीलाके अनुरूप श्रीमूर्तिको प्रकट किया है— इत्यादि श्रीमद्भागवतके प्रमाणसे इस बातको स्पष्ट समझा जा सकता है। 'माया' शब्दका कृपा अर्थ लेनेपर इस श्लोकके 'माया-मनुष्य' शब्दसे श्रीभगवान्‌की अलौकिक नरलीलाका संकेत मिलता है।

'त्रिकाण्डशेष' नामक कोशमें लिखा है—'माया स्याच्छाम्बरीबुद्धयोः'—'माया' शब्दका अर्थ शम्बरादि असुरोंके द्वारा प्रयुक्त मोहिनी शक्ति और ज्ञान भी है। 'माया' शब्दका ज्ञान अर्थ लेकर 'मायामनुष्य' शब्दकी आलोचना करनेपर एक और नया तत्त्व प्राप्त होता है। 'मायायां तत्त्वज्ञानदशायामपि मनुष्यः—नराकृतिपरब्रह्मरूपेण भक्तचेतसि प्रकाशमानः'— घटादि वस्तुके तत्त्वका अनुसंधान करनेपर अथवा तत्त्वज्ञान होनेपर—घट मृत्तिकाकी ही आकृति-विशेष है, मृत्तिका पृथ्वीके अतिसूक्ष्म अंश—गन्धतन्मात्राकी परिणति-विशेष है, इसी प्रकार गन्धतन्मात्रा अहंकारतत्त्वका परिणाम है। अहंकार-तत्त्व महत्तत्त्वका तथा महत्तत्त्व त्रिगुणमयी प्रकृतिके परिणामके रूपमें प्रतीयमान होता है; अन्तमें प्रकृतितत्त्वका चिन्तन करनेपर उसका भी पर्यवसान अखिलशक्तिमय श्रीगोविन्दमें ही होता है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड तथा ब्रह्माण्ड-गत जिस किसी वस्तुके तत्त्वपर चिन्तन किया जाय, सब कारणोंके कारण श्रीगोविन्दके अतिरिक्त और कोई तत्त्व ढूँढनेसे नहीं मिलेगा। कोई भी वस्तु अपने पृथक् अस्तित्वकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है। 'न विष्णुना वस्तुतरां हि वाच्यम्।'

नराकृति परब्रह्म श्रीवृन्दावनविहारी श्रीगोविन्दका तत्त्वानुसंधान करनेपर उस नराकृति परब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं प्राप्त होता है; क्योंकि 'स कारणं करणाधिपाधिपः' (श्वेता० ६ । ९)—वे नराकृति परब्रह्म ही सब कारणोंके कारण हैं, अतएव श्लोकस्थ 'माया' शब्दका ज्ञानार्थ ग्रहण करनेपर 'माया-मनुष्य' शब्दसे श्रीगोविन्दके इस तत्त्वका बोध होता है कि वह अज्ञान या तत्त्वज्ञान, सभी अवस्थाओंमें नराकृति है। अज्ञानान्धकारसे आच्छन्न जीव उनकी नराकृतिको देखकर अथवा नराकृतिकी बात सुनकर उनको प्राकृत नर समझता है और तत्त्वज्ञान-सम्पन्न मनुष्य उस नराकृतिके माधुर्यके सिन्धुमें अवगाहन करके कृतकृत्य हो जाता है।

महाराज परीक्षित् अपने कुलदेवता और प्राणरक्षक श्रीगोविन्दको माया-मनुष्यके रूपमें जानकर उनकी लीला श्रवण करनेके लिये उत्सुक होकर श्रीशुकदेवजीसे बोले— 'हे विद्वन् ! तस्य वीर्याणि वदस्व'—उन मायामनुष्य श्रीगोविन्दकी लीलाका वर्णन कीजिये। 'वद्' धातुके परस्मैपदी होनेपर भी महाराज परीक्षित्‌ने आत्मनेपदका प्रयोग करके एक और तत्त्वकी ओर संकेत किया है—'भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः (१ । ३ । ४७)— इस पाणिनि-सूत्रसे ज्ञात होता है कि भासमानता, उपसंभाषा (उपसान्त्वना) आदि अर्थोंको व्यक्त करनेके लिये 'वद्' धातुका आत्मनेपदमें प्रयोग होता है। यहाँ उपमन्त्रण (उपच्छन्दन या अनुरोध) अर्थमें आत्मनेपदका प्रयोग होनेपर, 'हे विद्वन् ! मेरे कल्याणके लिये यह परम मधुर श्रीगोविन्द-लीला आपको सुनानी पड़ेगी' यह अर्थ सूचित होता है। ज्ञानार्थमें आत्मनेपदका प्रयोग करनेपर भी नितान्त

व्याकरण-दोष नहीं आता, इससे श्रीशुकदेवजीके वक्तव्यके विषयमें ज्ञानकी सूचना मिलती है। अथवा, 'हे स्व ! मदेकबन्धो ! कृष्णस्य वीर्याणि वद'—हे मेरे अनन्य बन्धु ! आप कृपा करके मुझसे श्रीकृष्णकी लीलाकथा कहिये, वही मेरे सुदूर अज्ञात पथका पाथेय होगा। राज्य, धन आदि किसी भी साधनसे चरम पथके पाथेयका संग्रह नहीं होता, केवल श्रीगोविन्द-लीला-कथा ही उस पथका सम्बल है। 'वदस्व' पदसे यह अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है।

इस श्लोकका आस्वादन करनेपर महाराज परीक्षित्के द्वारा वर्णित श्रीभगवत्स्वरूपकी एक अच्छी चमत्कारिता अनुभूत होती है तथा यह भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस चमत्कारिताने ही महाराज परीक्षित्के श्रीकृष्ण-लीला-सम्बन्धी कौतूहलको उद्दीप्त किया है।

'श्रीभगवान् सब जीवोंको मृत्यु और अमृत प्रदान करते हैं'—इस वाक्यसे उनके अचिन्त्य ऐश्वर्यका परिचय प्राप्त होता है और वे ही 'माया-मनुष्य' हैं, अतएव माधुर्यकी सीमा नहीं रहती, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके पति होकर भी नरलोकमें अवतीर्ण होकर नरके साथ सम्बन्ध स्थापित करके जो लीला करते हैं, उनके माधुर्यका क्या कहीं अन्त है ? वे ही महान् महान् रूपमें ही रहें तो उनको उसमें माधुर्य नहीं मिल सकता, बल्कि महान् होनेके कारण संकोच उत्पन्न होगा। जो प्रकृतितः छोटा है, उसका कोई सत्कार नहीं कर सकता; क्योंकि छोटा होनेके कारण उसके प्रति हीनबुद्धि होगी। महान् यदि छोटा बनकर छोटे लोगोंसे मिल-जुलकर रहे, तभी उसका माधुर्य देखनेमें आयेगा। श्रीभगवान् माया-मनुष्यके रूपमें अपने असीम माधुर्यको अभिव्यक्त करके जीव-जगत्को कृतार्थ करते हैं। श्रीभगवान् अपने नित्य धाममें नित्य लीलाविलास करते हुए पुरुष-रूपमें सब जीवोंके हृदयमें अवस्थित हैं। यह उनकी पुरुषावतार-लीला है। फिर वे अजस्र ऐश्वर्य-माधुर्यको लेकर नरलोकमें प्रकट होते हैं, यह उनकी स्वरूपलीला है; अर्थात् अवतारी भाव है। अतएव एक साथ ऐश्वर्य-माधुर्य अवतारभाव और अवतारी भावको लेकर श्रीकृष्णरूपमें जगत्में प्रकट होकर अपने मधुर लीलाविलाससे उन्होंने इस जगत्को कृतार्थ किया है। श्रीकृष्णलीलाके ये चमत्कार इस श्लोकसे हृदयंगम होते हैं। श्रीकृष्णकी अपार करुणासे महाराज परीक्षित्के मनमें इस प्रकारके चमत्कारी भावकी स्फूर्ति होती है और वे परम कौतूहलवश होकर नाना प्रकारसे श्रीशुकदेवजीसे प्रश्न करके इस परम मधुर लीलाकथारसका आस्वादन करनेकी चेष्टा कर रहे हैं।

रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः संकर्षणस्त्वया। देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना॥
कस्मान्मुकुन्दो भगवान् पितुर्गेहाद् व्रजं गतः। क्व वासं ज्ञातिभिः सार्द्धं कृतवान् सात्वतां पतिः॥

(श्रीमद्भा० १० । १ । ८-९)

अन्वयः—संकर्षणः (संकर्षणापरनामा), रामः (बलरामः), रोहिण्याः (रोहिणीनामिकायाः श्रीवसुदेवभार्यायाः), तनयः (गर्भजातः पुत्रः), त्वया (भवतैव), प्रोक्तः (नवमस्कन्धे कथितः), (पुनः) देवक्याः (देवकीनामिकायाः श्रीवसुदेवभार्यायाः), गर्भसम्बन्धः (त्वयैव नवमस्कन्धे प्रोक्तस्तस्यैव श्रीबलरामस्य देवकीगर्भे जन्म), देहान्तरं विना (द्वितीयदेहधारणं विना रोहिणीगर्भजातेनैव देहेन), कुतः (केनोपायेन घटते) ॥ ८ ॥

मूलानुवाद—श्रीबलराम रोहिणीके पुत्र हैं, इसे मैंने आपके मुखसे ही सुना है, परंतु आपने उनको देवकीपुत्र भी कहा है, अतएव आपसे पूछता हूँ कि एक ही शरीरसे वे दोनोंके गर्भसे कैसे उत्पन्न हुए ? ॥ ८ ॥

अन्वयः—मुकुन्दः (असुराणामपि मुक्तिदाता भक्तानां प्रेमदाता च), भगवान् (षडैश्वर्यशाली श्रीकृष्णः), कस्मात् (केन हेतुना), पितुर्गेहात् (श्रीवसुदेववासस्थानं परित्यज्य), व्रजम् (श्रीनन्दगोपवासस्थानम्), गतः, (एवं च), सात्वतां पतिः (भक्तजनपरिपालकः कृष्णः), ज्ञातिभिः सार्धम् (गोपैः यादवैश्च सह), क्व (कस्मिन् स्थाने), वासं कृतवान् (उवास) ॥ ९ ॥

मूलानुवाद—असुरोंके भी मुक्तिदाता तथा भक्तोंको प्रेमदान करनेवाले श्रीभगवान् क्यों वसुदेवके गृहसे नन्दके घर गये तथा भक्तोंका प्रतिपालन करनेवाले श्रीगोविन्दने अपनी जातिके लोगोंके साथ कहाँ वास किया ? ॥ ९ ॥

व्रजे वसन् किमकरोन्मधुपुर्यां च केशवः। भ्रातरं चावधीत् कंसं मातुरद्धातदर्हणम्॥
देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः। यदुपुर्यां सहावात्सीत् पत्न्यः कत्यभवन् प्रभोः॥
एतदन्यच्च सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम्। वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्धधानाय विस्तृतम्॥

(श्रीमद्भा० १० । १ । १०—१२)

अन्वयः—केशवः (ब्रह्मशिवादीनामपि प्रभुः, स्वमहिम्ना तेषामपि व्यापक इति वा श्रीकृष्णः), व्रजे (श्रीनन्दगोपावासे), मधुपुर्याम् (मथुरायां द्वारकायाम्), वसन् (वासकाले), किम् अकरोत् (कानि कानि परमाद्भुतकर्माणि अनुष्ठितवान्), मातुः (श्रीदेवक्याः), भ्रातरम् (ज्येष्ठतातपुत्रम्), अतदर्हणम् (मातुर्भ्रातृत्वादेव वधायोग्यम्), कंसम् अद्धा (साक्षात् स्वयमेव), (कथम्) अवधीत् (जघान) ॥ १० ॥

मूलानुवाद—ब्रह्मा-शिवादि जिनके पादपद्मकी सेवा करते हैं, उन श्रीगोविन्दने व्रजमें, मथुरामें तथा द्वारकामें रहते हुए कौन-कौन-सी लीलाएँ कीं तथा उन्होंने अपनी माताके भाई कंसका किस कारण स्वयं अपने हाथसे वध किया था ? ॥ १० ॥

अन्वयः—मानुषः (मनुष्याकारं परमसुन्दरम्), देहम् (नित्यसिद्धश्रीमूर्तिम्), आश्रित्य (नरलोके प्रकटीकृत्य), वृष्णिभिः (यादवैः), सह कति वर्षाणि (कियन्ति वर्षाणि मर्यादीकृत्य), यदुपुर्याम् (द्वारकायाम्), अवात्सीत् (उवास), प्रभोः (सर्वेश्वरस्य श्रीकृष्णस्य), कति (कियत्संख्याकाः), पत्न्यः (प्रेयस्यः), अभवन् (कियतीनां तादृशं भाग्यं जातम्) ? ॥ ११ ॥

मूलानुवाद—श्रीभगवान्‌ने नराकृति परब्रह्मरूपमें नरलोकमें प्रकट होकर यादव लोगोंके साथ कितने वर्ष द्वारकामें वास किया तथा उनकी कितनी पत्नियाँ थीं ? ॥ ११ ॥

अन्वयः—(हे) मुने (निरन्तरश्रीकृष्णलीलामननशील) !, (हे) सर्वज्ञ (साकल्येन श्रीकृष्णलीलाभिज्ञ) !, एतत् (पूर्वं मया पृष्टम्), अन्यत् च (अज्ञानत्वादपृष्टं च), सर्वं (निखिलम्), कृष्णविचेष्टितम् (सर्वाकर्षकपरमानन्दघन-विग्रहस्य श्रीगोविन्दस्य विविधाः लीलाः), श्रद्धधानाय (भवदनुग्रहेणैव श्रीकृष्णलीलाश्रद्धावते मह्यम्), विस्तृतम् (तत्त्व-सिद्धान्तप्रयोजनादिनिर्देशपूर्वकम्), वक्तुम् अर्हसि (कथयितुं योग्यो भवसि) ॥ १२ ॥

मूलानुवाद—हे श्रीकृष्णलीलामननपरायण ! सर्वज्ञ-शिरोमणे ! मैंने जो आपसे पूछा है या और भी जो मैं नहीं पूछ सका हूँ—आप कृपा करके श्रीकृष्णकी इन समस्त लीलाकथाओंका मुझसे वर्णन करें ॥ १२ ॥

श्रीभागवतामृतवर्षिणी—महाराज परीक्षित् श्रीकृष्णलीला-कथाको श्रवण करनेके लिये लालायित होकर साधारण रूपमें श्रीकृष्णलीलाके सम्बन्धमें प्रश्न करके सम्प्रति इस विषयमें जो उनको विशेषरूपसे पूछना है, उसीकी अवतारणा कर रहे हैं।

नवम स्कन्धमें यदुवंश-वर्णनके प्रसङ्गमें श्रीशुकदेवजी कह चुके हैं—

बलं गदं सारणं च दुर्मदं विपुलं ध्रुवम्।
वसुदेवस्तु रोहिण्यां कृतादीनुदपादयत्॥

(२४ । ४६)

‘वसुदेवजीने अपनी पत्नी रोहिणीके गर्भसे बल, गद, सारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव और कृत आदि पुत्र उत्पन्न किये।’ उसके आगे वर्णित है कि—

वसुदेवस्तु देवक्यामष्टपुत्रानजीजनत्।
कीर्तिमन्तं सुषेणं च भद्रसेनमुदारधीः॥
मृदुं संतर्दनं भद्रं संकर्षणमहीश्वरम्।
अष्टमस्तु तयोरासीत् स्वयमेव हरिः किल॥

उदारबुद्धि वसुदेवजीने अपनी पत्नी देवकीके गर्भसे आठ पुत्रोंको उत्पन्न किया। कीर्तिमान्, सुषेण, भद्रसेन, मृदु, संतर्दन, भद्र और नागराज शेषके अवतार संकर्षण—ये सात पुत्र हुए और उन दोनोंके आठवें पुत्रके रूपमें स्वयं श्रीहरि ही अवतीर्ण हुए।

इससे ज्ञात होता है कि रोहिणीके गर्भसे उत्पन्न बल और देवकीके गर्भसे पैदा हुए संकर्षण एक ही व्यक्ति हैं। इसी कारण महाराज परीक्षित्‌ने संदेहमें पड़कर

श्रीशुकदेवजीसे पूछा—'श्रीबलदेव एक ही शरीरसे, दो गर्भोंसे कैसे उत्पन्न हुए ?' श्रीबलराम श्रीभगवान्‌के ही द्वितीय देह हैं, अतएव वे भी अचिन्त्य अनन्त शक्तिसम्पन्न हैं। उनका एक ही देहसे, दो गर्भोंसे जन्म लेना कुछ-भी असम्भव नहीं है। इस तत्त्वको महाराज परीक्षित् नहीं जानते हों, ऐसी बात नहीं है। तथापि उनके इस प्रकार प्रश्न करनेका उद्देश्य यह है कि उन्होंने मनमें सोचा कि श्रीबलराम दो प्रकारसे दो गर्भोंसे जन्म ले सकते हैं, परंतु यहाँ यह अवश्य ज्ञातव्य है कि इस प्रकारकी व्यवस्था उन्होंने स्वेच्छासे अथवा श्रीभगवान्‌की इच्छासे की; क्योंकि यदि स्वेच्छासे की हो तो श्रीभगवान्‌के नित्य सेवक श्रीसंकर्षणकी कोई अचिन्त्य भगवत्सेवापरिपाटी इस लीलामें होगी। यदि श्रीभगवदिच्छासे की तो श्रीभगवान्‌की इस लीलामें किसी भक्तवात्सल्यका अभिनय होगा।

श्रीबलरामके जन्म-रहस्यको जाननेकी लालसासे महाराज परीक्षित्‌ने इस प्रकार प्रश्न करके श्रीकृष्ण-लीलाके सम्बन्धमें भी कतिपय प्रश्नोंकी अवतारणा की।

नवम स्कन्धमें 'जातो गतः पितृगृहाद् व्रजमेधितार्थः' आदि श्लोकमें श्रीशुकदेवजीने संक्षेपमें श्रीकृष्णके मथुरामें जन्म लेकर व्रज-गमन करने तथा वहाँके प्रयोजनका निर्वाह करके पुनः मथुरामें आनेकी कथा वर्णन की है। इस कथामें अवश्य कोई गूढ़ रहस्य है, यह सोचकर महाराज परीक्षित्‌ने प्रश्न किया कि 'भगवान् मुकुन्द पिताके घरसे व्रजमें क्यों गये ?' महाराज परीक्षित्‌का यह प्रश्न बहुत उद्देश्यपूर्ण है। 'श्रीकृष्ण कंसके भयसे मथुरासे व्रजमें चले गये थे'—इस सम्भावनाका महाराज परीक्षित्‌ने 'भगवान्' शब्दद्वारा खण्डन कर दिया है। जो भगवान् अर्थात् अचिन्त्य अनन्तशक्तिमान् हैं, साक्षात् भयको भी भय प्रदान करनेवाले हैं, वे भला, किसीके भयसे कहीं छिप सकते हैं ? मुकुन्द अर्थात् मुक्तिदाता जो हैं, उनका नरलोकमें आविर्भाव असुरप्रभृति जीवगणको मुक्ति प्रदान करनेके लिये हुआ। व्रजमें गो, गोप, गोपी—सभी प्रगाढ़ प्रेम-सम्पन्न थे, वहाँ मुक्ति-प्रदानके योग्य कोई नहीं था। जो देह-गृह आदिके अभिमानसे आबद्ध हैं, उनको मुक्ति प्रदान करके श्रीभगवान् अपने मुकुन्द नामको सार्थक करते हैं। जिनके देह-गेह आदि प्रत्येक वस्तुके साथ श्रीकृष्णका सम्बन्ध है, उनको फिर बन्धन कैसा ? अतएव व्रजमें मुक्तिदानके योग्य कोई नहीं थे। मथुरामें कंस और कंसके अनुचर लोग बद्ध जीव थे, उनको मुक्ति देनेके कारण ही श्रीभगवान्‌का 'मुकुन्द' नाम सार्थक होता है, अतएव उनका व्रजमें न जाकर कंस आदिको मुक्ति प्रदान करनेके लिये मथुरामें रहना ही उचित था। वहाँ बद्ध जीव थे, वही स्थान मुकुन्दके आविर्भावके योग्य—वास करने योग्य था। 'मु' अर्थात् मुक्तिसुख, 'कु' अर्थात् कुत्सित है जिससे—इस प्रकारकी व्युत्पत्ति करनेपर 'मुकु' शब्दका अर्थ होता है प्रेमानन्द। प्रेमानन्दके सिवा अन्य किसी वस्तुके सामने मुक्तिसुख तुच्छ नहीं हो सकता।

त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो॥

'हे भगवन्! मैं आपका दर्शन करके जो आनन्दसिन्धुमें गोते लगा रहा हूँ, इससे मुझे ब्रह्मानन्द भी गोष्पदके समान लग रहा है।' भक्तचूड़ामणि प्रह्लादके इस वचनसे यह स्पष्ट समझमें आ जाता है। अस्तु, 'मुकु' शब्दका 'प्रेमानन्द' अर्थ ग्रहण करनेपर 'मुकुन्द' शब्दका अर्थ होता है 'प्रेमानन्ददाता'। श्रीभगवान् यदि प्रेमानन्ददान करनेके उद्देश्यसे ही अवतीर्ण होते हैं तो उनके लिये मथुरामें जन्म न लेकर एकबारगी व्रजमें उत्पन्न होना ही ठीक था।

श्रीभगवान्‌को चाहे मुक्तिदाता अथवा प्रेमानन्ददाता कह लीजिये, उनके मथुरामें जन्म लेनेके बाद व्रजमें जाने तथा वहाँ बाल्यकाल बिताकर पुनः मथुरामें आगमन करनेकी लीलामें कोई गूढ़ रहस्य है, उसे किसी प्रकारसे मैं समझ नहीं पा रहा हूँ। अतएव हे तत्त्वज्ञ-चूड़ामणे ! आप विस्तारपूर्वक इस रहस्यका वर्णन करें।

महाराज परीक्षित्‌ने श्रीभगवान्‌के जन्म तथा उसके बाद व्रजमें वास करनेके विषयमें प्रश्न करके अन्तमें पूछा कि 'हे गुरो! भक्तजनप्रतिपालक श्रीभगवान्‌ने अपनी जातिके लोगोंके साथ कहाँ वास किया था ?' महाराज परीक्षित्‌के इस प्रश्नमें भी एक गूढ़ रहस्य है। उनके मनका भाव यह था कि जन्म-सम्बन्धके सिवा कोई किसीका जाति-भाई नहीं होता। एक वंशमें उत्पन्न व्यक्ति ही परस्पर एक जाति होते हैं। श्रीभगवान् अज अर्थात् जन्मरहित हैं, अतएव उनका जाति-सम्बन्ध होना असम्भव-सा जान पड़ता है, परंतु श्रीभगवान् सर्वेश्वर होकर भी कदापि प्रेमाधीनता और भक्त-वात्सल्य भावका परित्याग नहीं करते, इसी कारण अज होकर भी भक्तके वात्सल्यप्रेमके अधीन होकर भक्तके वंशमें जन्म लेते हैं।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
(गीता ४ । ६)

इस गीतावाक्यमें स्वयं श्रीभगवान्ने अपने श्रीमुखसे यह स्वीकार किया है। वे अज होकर अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाववश स्वेच्छासे जन्म लेते हैं। तथापि जीवके जन्मके साथ यह अन्तर होता है कि जीवका जन्म कर्माधीन होता है और श्रीभगवान्का जन्म प्रेमाधीन। अस्तु, श्रीभगवान् भक्तवात्सल्यके वश जिस वंशके साथ यह सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उस वंशमें उत्पन्न महाभाग्यवान् लोग ही श्रीभगवान्के जाति-भाई होते हैं।

श्रीमद्भागवतमें यादवलोग और गोपवृन्द श्रीकृष्णकी ज्ञातिके रूपमें निर्दिष्ट हैं। श्रीभगवान्ने श्रीवृन्दावनसे मथुरा जाते समय श्रीवृन्दावनवासी लोगोंसे कहा था—"ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्।"—मथुरावासी आत्मीय जनोंको सुख प्रदान करके वृन्दावनमें पुनः आत्मीय जनों (जातिके लोगों)को देखनेके लिये आऊँगा।' श्रीभगवान्के वसुदेवजीके पुत्रके रूपमें जन्म लेनेकी बात स्पष्टरूपसे श्रीमद्भागवतमें वर्णित है। अतएव यादवलोग भी उनकी जाति हैं। (महाराज परीक्षित् अपने सम्बन्धके अनुसार श्रीकृष्णको वसुदेव-नन्दनके रूपमें ही जानते हैं, अतएव उनके मतसे यादवलोग श्रीकृष्णकी ज्ञाति हैं। श्रीशुकदेवजी 'ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामः'—श्रीकृष्णके श्रीमुखकी इस बातसे गोपगणको उनकी ज्ञातिके रूपमें ही जानते हैं। इसी कारण उन्होंने गोपगणके साथ श्रीकृष्णके रहनेकी कथा भी वर्णन की है।) श्रीकृष्ण भक्तजनके प्रतिपालक हैं, अतएव वे अपने भक्तोंका पालन करनेके लिये अवश्य ही उनके साथ एक जगह निवास करेंगे, इसी कारण पूछता हूँ कि जिनके प्रेमसे आकर्षित होकर श्रीभगवान् अज होकर भी जन्म लेनेसे नहीं चूकते, उन परमभक्त यादवगणके साथ उन्होंने कहाँ निवास किया था, यह मुझसे वर्णन कीजिये।

भक्तवत्सल श्रीगोविन्दके जातीय लोगोंके साथ निवास करनेके स्थान मात्रका नाम सुनकर महाराज परीक्षित् संतुष्ट होनेवाले नहीं थे, इस कारण उन्होंने फिर पूछा—हे प्रभो! श्रीकृष्णने व्रज और मधुपुरीमें निवास करते समय कौन-कौन लीलाएँ की हैं? यहाँ 'व्रज' शब्दका अर्थ गोकुल और वृन्दावन तथा 'मधुपुरी'का अर्थ मथुरा और द्वारका है। अतएव इस प्रश्नसे श्रीभगवान्की इन तीनों स्थानोंकी लीलाएँ तथा द्वारकामें निवास करते समय हस्तिनापुर, कुरुक्षेत्र आदि स्थानोंकी लीलाएँ भी सूचित होती हैं। महाराज परीक्षित् श्रीभगवान्के गोकुल, मथुरा और द्वारका—इन तीनों धामोंमें निवास करते समयकी लीलाओंके सम्बन्धमें प्रश्न करके उनकी मथुरा-लीलामें कंस-वधके सम्बन्धमें संदिग्ध भावसे प्रश्न किया—हे प्रभो! श्रीकृष्णकी जन्म-लीलाओंकी आलोचना करनेसे ज्ञात होता है कि कंस उनकी माता देवकीके चचेरे भाई थे, अतएव श्रीकृष्णके मामा थे, परंतु श्रीकृष्णने सब सद्गुणोंके आधार होकर भी सारी जनताके सामने स्वयं उनका वध किया, इसका क्या कारण है? अति नीच मनुष्य भी जनताके सामने ऐसा निन्दित कर्म करते समय लज्जित होता है, परंतु पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने यह लीला की, पता नहीं, उनकी कौन-सी अपार करुणा इसमें निहित थी।

महाराज परीक्षित्ने एक और प्रश्न किया कि 'देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः। यदुपुर्यां सहावात्सीत्'—इस श्लोकका आपाततः अर्थ करनेसे ज्ञात होता है कि महाराज परीक्षित् पूछ रहे हैं कि श्रीभगवान्ने नर-देह धारण करके कितने वर्ष यादवोंके साथ यदुपुरीमें निवास किया था? श्लोकका यह मोटा-मोटी अर्थ लेकर स्थूलरूपसे आलोचना करनेपर जान पड़ता है कि जीव जैसे अपने-अपने कर्मके अनुसार मनुष्य, पशु, देवता आदि देह धारण कर अपने कर्मफलको भोगकर उस देहका परित्याग करता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् भी प्रयोजनके अनुसार मनुष्य, पशु और देवता आदि देह धारणकर यथासम्भव लीला करके फिर उस देहका परित्याग कर देते हैं। जीवके साथ उनकी विभिन्नता केवल इतनी ही है कि वे कर्मफलके अनुसार देह धारण नहीं करते, स्वेच्छासे करते हैं। निराकारवादी और ब्रह्म-सायुज्यकी कामना करनेवाले इसी सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखकर साधनपथमें अग्रसर होनेकी चेष्टा करते हैं। परंतु इसमें श्रीभगवान्की श्रीमूर्तिको अपने कर्मफलद्वारा प्राप्त प्राकृत देहके समान अनित्य मानकर महान् अपराध-सागरमें डूबना पड़ता है। श्रीश्रीमहाप्रभुके साथ जब श्रीकाशीधाममें अद्वैत-वादी वेदान्ती आचार्य श्रीमान् प्रकाशानन्द सरस्वतीकी तत्त्वालोचना हुई थी, उस समय श्रीश्रीमहाप्रभुने उनसे कहा था—

'विष्णुनिन्दा आर नहिं इहार ऊपर।
प्राकृत करिया माने विष्णु कलेवर॥'
(श्रीचैतन्यचरितामृत)

निराकारवादके सम्बन्धमें भी वहाँ श्रीश्रीमहाप्रभुने कहा था—

तांहार विभूति देह सब चिदाकार।
चिद्विभूति आच्छादिया कहे निराकार॥
चिदानन्द देह तार स्थान परिवार।
तांरे कहे प्राकृत सत्त्वेर विकार॥
(श्रीचैतन्यचरितामृत)

श्रीमाधवाचार्यजीने अपने वेदान्त-भाष्यमें वराहपुराणका श्लोक उद्धृत करके दिखलाया है कि—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हेयोपादेयरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥

इस तरह नाना प्रकारकी शास्त्रीय युक्तिका आश्रय लेकर वैष्णव आचार्योंने अति सूक्ष्मभावसे विचार करके श्रीभगवान्‌की श्रीमूर्तिको अपने शरीरके समान जडरूपमें स्वीकार करना पसंद नहीं किया है। विशेषतः जिन्होंने लीलामय श्रीगोविन्दकी उपासनामें अनेक जन्म बिताये हैं, वे अपनी साधनाकी सिद्धिमें निराकारका अनुभव करके क्या सुख प्राप्त करेंगे ?

श्रीधर स्वामि-पादने इस श्लोककी कोई व्याख्या नहीं की है। वे श्रीनृसिंह भगवान्‌के उपासक थे तथा श्रीनृसिंह भगवान्‌की अपार करुणासे उनकी ज्ञान-सिद्धि हुई थी। अतएव वे अपने उपास्यदेवकी श्रीमूर्तिको प्राकृत कह सकेंगे—यह स्वप्नमें भी कल्पना नहीं की जा सकती है। इस श्लोकपर श्रीधर स्वामीकी व्याख्या नहीं है, अतएव श्रीसनातन गोस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती, श्रीवीरराघवाचार्य, श्रीविजयध्वजतीर्थ आदि वैष्णव दार्शनिकों-के मतके सिवा इस श्लोकका अर्थ समझनेके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है। उनके मतसे श्रीभगवान्‌का श्रीविग्रह नित्य है। अतएव जीव-जगत्‌में उनकी लीला प्रकट होती है, तब मायातीत धामकी नित्यसिद्ध श्रीमूर्ति ही जगत्‌में प्रकट होती है। जगत्‌में लीला करनेके लिये उनको जीवके समान देह धारण करनेकी आवश्यकता नहीं होती। अतएव 'मानुषं देहमाश्रित्य'—इस श्लोकका अर्थ हुआ 'मर्त्यलोकमासाद्य'—अर्थात् मृत्युलोकमें अवतीर्ण होकर। पृथ्वीपर यद्यपि पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि नाना प्रकारके जीव वास करते हैं, तथापि उन जीवोंमें मनुष्यके प्रधान होनेके कारण पृथ्वीका एक नाम मनुष्यलोक है। पृथ्वी, स्वर्ग आदि चौदह भुवन श्रीभगवान्‌के विराट् देहके अन्तर्गत हैं, अतएव पृथ्वीको उनका देह कह सकते हैं, अतएव मनुष्यदेह शब्दसे मर्त्यलोक अर्थ युक्तिहीन नहीं है। इस मतमें 'देहं मानुषमासाद्य' श्लोकका यही पाठ गृहीत और स्वीकृत हुआ है।

लघुतोषणीकार श्रीजीवगोस्वामिपादने 'अथ व्याख्यान्तरम्' कहकर एक और व्याख्या प्रदर्शित की है। उनका उद्देश्य यह है कि यदि कोई समझे कि श्लोकस्थ 'मानुषं देहम्' इस वाक्यसे कष्ट-कल्पना करके 'मानुषं लोकम्' व्याख्या करना समीचीन नहीं है तथा यह ग्रन्थकारको अभिप्रेत था—ऐसा कहकर स्वीकार नहीं किया जा सकता—इसलिये यहाँ वाच्यार्थ ही ग्राह्य है। अतएव उन्होंने वाच्यार्थका अवलम्बन करके दूसरी व्याख्या दिखलाते हुए कहा है—'मानुषं देहम्'—'मनुष्याकारं परमसुन्दरं देहम्'—मनुष्यके समान द्विभुज तथा परम सुन्दर अर्थात् चर-अचर आदि सबके लिये मनोहर श्रीमूर्ति। श्रीभगवान् अज अर्थात् जन्मरहित हैं, तथापि उनको यादव, वासुदेव आदि शब्दोंसे शास्त्रकारने अभिहित किया है, इसका कारण यही है कि वे प्राकृत जीवके समान जन्म ग्रहण न करनेपर भी यदुवंशमें अवतीर्ण हुए थे, अतएव यादव तथा वसुदेवके पुत्रके रूपमें अवतीर्ण होनेके कारण 'वासुदेव' नामसे अभिहित होते हैं; इसी प्रकारकी युक्तिसे वे मनुवंशमें अवतीर्ण हुए थे, अतएव उनको 'मानव' या 'मानुष' कहनेमें भी कोई अपसिद्धान्त नहीं उपस्थित होता। फिर भी वे हमलोगों-जैसे मनुष्य नहीं हैं। मनुके वंशमें अपनी नित्यसिद्ध मनुष्याकृतिको प्रकट किया है, इस कारण मनुष्य हैं। 'परमात्मा नराकृतिः' 'नराकृति परं ब्रह्म,' 'गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्।' इत्यादि पुराण-वाक्योंमें तथा 'आत्मा वा इदमग्र आसीत् पुरुषविधः'—इस श्रुतिमें स्पष्ट ही उनकी नित्यसिद्ध नराकृतिका उल्लेख मिलता है। श्लोकस्थ 'आश्रित्य' पदका यदि 'आश्रय करके' यह वाच्यार्थ लिया जाय तो श्रीभगवान्‌की नराकृतिकी नित्यताकी रक्षा न हो सकेगी। उन्होंने मनुष्यदेहका आश्रय लेकर

लीला की, यह बात कहनेसे वैसा ही लगता है, जैसे हमलोग कर्मवश मनुष्यदेहका आश्रय लेकर कर्मफल भोगते हैं। इसी कारण श्रीजीवगोस्वामिपादने व्याख्या की है—'आश्रित्य प्रकाश्य'—अर्थात् श्लोकस्थ 'आश्रित्य' शब्दका अर्थ है प्रकाश करके, प्रकट करके। अतएव स्थूल रूपसे यही अर्थ हुआ कि श्रीभगवान्ने अपनी नित्यसिद्ध नराकृतिको प्रकट करके यादववृन्दके साथ कितने वर्ष यदुपुरमें वास किया था? 'चक्षुराश्रित्य रूपे स्थितः'—इस श्रुतिका अर्थ करते समय जैसे 'आश्रित्य' शब्दका 'प्रकाश्य' अर्थ न करनेपर सिद्धान्त-विरोध होता है, वैसा ही इस श्लोकमें भी होता।

इसके बाद महाराज परीक्षित्ने प्रश्न किया कि 'श्रीकृष्णकी कितनी स्त्रियाँ थीं? रमणीमोहन श्रीगोविन्दके पतिरूपमें सेवा करनेका अधिकार कितनी भाग्यवती रमणियोंको प्राप्त हुआ था, उसे जाननेकी इच्छा ही इस प्रश्नका मूल उद्देश्य है। विशेषतः श्रीकृष्णकी प्रेयसीगण सभी श्रीकृष्णकी शक्तियाँ हैं। इस लीलामें उन्होंने अपनी अनन्त शक्तियोंकी किन-किन मूर्तियोंको लेकर अपनी दाम्पत्य-लीला सम्पादित की थी, इसको जाननेकी इच्छा भी इस प्रश्नका एक और उद्देश्य है।

महाराज परीक्षित् श्रीकृष्णलीलाके गूढ़ तत्त्वको जाननेके अभिप्रायसे इस प्रकार अनेक प्रश्न करके अन्तमें बोले—'हे गुरो! मैं श्रीकृष्णलीलाके विषयमें कुछ भी नहीं जानता, अतएव मुझमें प्रश्न करनेकी योग्यता भी नहीं है। श्रीकृष्ण-लीला अप्राकृत वस्तु है, प्राकृत मनके प्राकृत संदेहको लेकर प्रश्न करना भी महान् अपराध है। विशेषतः जो जिस विषयको जानता है, वही उस विषयमें प्रश्न करनेका अधिकारी है। मैं विषयासक्त जीव हूँ, श्रीकृष्णलीलाके विषयमें कुछ भी नहीं जानता हूँ। केवल आपकी कृपासे सुननेकी इच्छा हो गयी है, उसीके आवेगमें आपसे कुछ प्रश्न किया है। आप 'मुनि' हैं, अर्थात् निरन्तर श्रीकृष्ण-लीला-मननपरायण हैं और सर्वज्ञ हैं अर्थात् भक्तिके बलसे श्रीकृष्णलीलाके अर्थके तत्त्वको जानते हैं, आपके लिये कुछ भी अज्ञेय नहीं है। मुझे प्रश्न करना आये या न आये, आप कृपा करके समस्त श्रीकृष्णलीलाके रहस्यका वर्णन करें। श्रीभगवान् अपने रूप, गुण और लीलामाधुरीसे सबके चित्तको आकर्षित करते हैं, अतएव उनका नाम श्रीकृष्ण है। उनकी विविध लीलाएँ सबको आकर्षित करेंगी, इसमें संदेह नहीं। मैं विषयी जीव हूँ, मेरा चित्त सदा विषयोंमें आसक्त रहता है। जीवनमें ऐसी कोई साधना नहीं हुई, जिसके द्वारा चित्तका आकर्षण करके उसे श्रीभगवान्के चरणोंमें समर्पित करता। तथापि इतना भरोसा है कि वे 'कृष्ण' हैं, वे अपने स्वभावसे सबके चित्तको आकर्षित करते हैं, इसी कारण उनकी लीला-कथा श्रवण करनेको मेरी श्रद्धा उत्पन्न हुई है, अन्यथा मेरे-जैसे विषयी जीवका कोई अवलम्बन न होनेके कारण मैं कथा-श्रवणसे विरत हो जाता। इसी कारण कहता हूँ कि 'हे करुणानिधे! कृपापूर्वक सर्वचित्ताकर्षक श्रीगोविन्दकी कथाका वर्णन करके इस अधम जीवनका निस्तार करें। (क्रमशः)

रसानुभूति

जुगल-छवि नयनन आय अड़ी।
कमल-कोसमें मनहुँ प्रीतिकी प्रतिमा जुगल जड़ी॥
मणि-माणिक-मयि मूरति दोऊ, जीवन-जोति जगी।
अथवा काम-कामिनीकी छवि पावन प्रीति-पगी॥
बाँके नयन जुगल हू बाँके, बाँकी जुगति जुड़ी।
बाँको रस उनयो उर-अन्तर, बाँकी रति उमड़ी॥
या रतिकी रिझवार जुगल छवि नव-नव केलि करी।
ताही केलिमालमें मतिकी गति अति सिथिल परी॥
मति न रही, रति ही रति भासत, रसकी रौर ररी।
तन-मन भये निछावर पिय पै, अपुनी सुधि बिसरी॥
कहा कहौं या रसको रस-कस, बरबस बिबस करी।
नस-नसमें रस ही रस व्याप्यौ, रसनिधि आपु वरी॥

—स्वामी सनातनदेव

ज्ञान एवं भक्तिके प्रतीक—मनु और शतरूपा

(लेखक—पद्मभूषण डॉ० श्रीरामकुमारजी वर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यवाचस्पति)

संत तुलसीदासका श्रीरामचरितमानस भारतीय साधना-का अद्वितीय ग्रन्थ है। ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगके अनुष्ठानसे साधक अपनी प्रवृत्तियोंके अनुसार परम पदको प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसका विस्तारसे विवेचन हुआ है। अठारहवें अध्यायके ५४ वें श्लोकमें भक्तिकी विशेषता इस प्रकार बतायी गयी है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

अर्थात् 'ब्रह्मभूत, प्रसन्नचित्त पुरुष न तो चिन्ता करता है और न किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा ही रखता है। सभी व्यक्तियोंमें सम भाव रखता हुआ वह मेरी पराभक्तिको प्राप्त करता है।'

संत तुलसीदासने भी मानसमें ज्ञान और भक्तिकी विवेचना करते हुए भक्तिकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। उन्होंने इस सम्बन्धमें अनेक रूपकों और प्रतीकोंका प्रयोग किया है। तृतीय सोपानमें प्रभु रामने नारदसे कहा—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥
(मानस ३। ४२। ४-५)

यहाँ भक्तको बालक और उसकी वृत्तिको ही भक्तिकी संज्ञा दी गयी है। सप्तम सोपानमें जब कागभुशुण्डिने कहा कि—

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृहँ त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥
सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥
(मानस ७। ११४। १-२)

इसपर गरुड़ने प्रश्न किया—

ग्यानहि भगतिहि अंतर केता। सकल कहहु प्रभु कृपा निकेता॥
(मानस ७। ११४। ६)

इसपर कागभुशुण्डिने उत्तर दिया—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥
(मानस ७। ११४। ७)

ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥
(मानस ७ ११८। १)

इसके साथ ही उन्होंने ज्ञान-दीप प्रज्वलित करनेके लिये घृत और बातीका एक आध्यात्मिक रूपक प्रस्तुत किया है, जिसका संयोजन कष्ट-साध्य मनोवृत्तियोंसे ही सम्भव है। ज्ञानसे मुक्तिकी प्राप्ति कितनी कठिन है, इसपर उनका दोहा है—

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होइ घुनाच्छर न्याय ज्यौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥
(मानस ७। ११८)

किंतु भक्ति-दीप तो मणि-दीप है जिसके लिये किसी उपकरणकी आवश्यकता नहीं। वह स्वयमेव प्रकाशित है। संत कवि तुलसीदास कहते हैं—

परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥
(मानस ७। १२०। ३-६)

इस भाँति श्रद्धा, विश्वास, कामधेनु, तरनी, मणि-दीप आदि अनेक रूपकोंसे संत तुलसीदासने भक्तिका रूप स्पष्ट किया है। पर मेरी दृष्टिसे ज्ञान और भक्तिकी तुलनात्मक समीक्षा कविने मनु और शतरूपाकी कथाके माध्यमसे की है। इसका संकेत उन्होंने कथाके आरम्भमें ही दे दिया है। जब मनुके हृदयमें पश्चात्ताप हुआ कि—

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु॥
(मानस १। १४२)

और वे अपना राज्य हठपूर्वक अपने पुत्रको देकर अपनी पत्नीके साथ वनको चले गये। उस स्थितिमें उनके लिये कविने इस प्रकार उपमा प्रस्तुत की है—

पंथ जात सोहहिं मति धीरा। ग्यान भगति जनु धरें सरीरा॥

यहाँ मनु ज्ञानरूप हैं और शतरूपा भक्तिस्वरूपा। आगेकी कथामें मनु और शतरूपाकी जो साधना है, उससे क्रमशः ज्ञान और भक्तिका तत्त्व-निदर्शन सहज ही हो जाता है। ज्ञानके सम्बन्धमें महाकविने लिखा है—

रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥
इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥

जब सो प्रभंजन उर गृहँ जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई॥
(मानस ७। ११८। ४, ६, ७)

ज्ञानका प्रतीक होनेके कारण मनुका मनोविज्ञान इसी प्रकार आन्दोलित हुआ है। इष्ट-सिद्धि होनेपर भी उन्हें संतोष नहीं होता। उनकी बुद्धि आगेकी सिद्धियोंकी ओर उन्हें प्रेरित करती जाती है। 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।' की स्थितिमें उनके लोभकी दीप-शिखा अधिकाधिक प्रज्वलित होती जाती है। उनकी मानसिक स्थिति किस भाँति एक केन्द्रसे दूसरे केन्द्रपर जाती है, यह कथाके विकाससे ही स्पष्ट हो जाता है।

उनकी पहली मानसिक स्थिति यह है कि उनका जीवन **'हरि भगति बिनु'** व्यतीत हो गया। इसके लिये वे नैमिषारण्य तीर्थमें पत्नीसहित जाकर मुनियोंके साथ अनेक तीर्थोंमें भ्रमण करते हैं और संतोंके समाजमें पुराणादि सुनते हैं।

दूसरी स्थिति अधिक स्पष्ट होती है कि वे अब मन्त्रोंसहित वासुदेवकी उपासना करते हैं—

द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥
(१। १४३)

कठिनसे कठिनतर और कठिनतम तपस्या करनेके उपरान्त जब प्रभुकी आकाशवाणी हुई—

मागु मागु बरु भै नभ बानी। परम गभीर कृपामृत सानी॥

तब मनुने प्रेम-पूर्ण हृदयसे दंडवतकर तीसरी बात कही—

जौं अनाथ हित हम पर नेहू। तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू॥
जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥

विनीत और प्रेम-रससे पगी हुई मनुकी प्रार्थना सुनकर प्रभु प्रकट हुए—

भगत बछल प्रभु कृपा निधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥
नील सरोरुह नील मनि नील नीरधर स्याम।
लाजहिं तन सोभा निरखि कोटि कोटि सत काम॥

कृपानिधान प्रभुने उनसे वरदान माँगनेको कहा—

बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि।
मागहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि॥
(१। १४८)

मनुकी अभिलाषाके पंख लग गये; यद्यपि उन्होंने कहा—

नाथ देखि पद कमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे॥

तथापि महादानीको सामने देखकर उनकी बुद्धि ऊँची उड़ान भरनेके लिये अग्रसर हुई। उन्होंने चौथी बात कही—

एक लालसा बड़ि उर माहीं। सुगम अगम कहि जाति सो नाहीं॥

जब सब काम पूरे हो गये, तब लालसा कैसी ?

दानि सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सति भाउ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ॥
(१। १४९)

मनुने कहा—तुम्हारे समान ही पुत्र चाहता हूँ। कहाँ उन्होंने अपने पुत्रको हठपूर्वक राज्य देकर वैराग्य ले लिया था। अब इतनी तपस्याके बाद पुनः पुत्रकी लालसा उत्पन्न हो गयी। किंतु प्रभुने तो कह दिया था—

सकुच बिहाइ मागु नृप मोही। मोरें नहिं अदेय कछु तोही॥

उन्होंने अपनी दानशीलताके आधारपर अपनी स्वीकृति दी—

देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥
आप सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥

मनु उतनेसे ही संतुष्ट नहीं हुए। वे इसके बाद भी पाँचवीं बात बोले—

बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी। और एक बिनती प्रभु मोरी॥
सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना।
मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥
अस बरु मागि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ॥
(१। १५०। २–४)

और मनुके दशरथके रूपमें जन्म लेनेपर इसी सुत-विषयक रति विशेषके कारण उनका शरीर छूटा।

रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥
(मानस ७। ११७। ४)

साधारणतया स्त्रीपुत्रादिविषयक रागको मोह कहते हैं। ज्ञानाभिमानी जब मोहसे आक्रान्त होता है तब उसका पतन होता है। इसे ही दर्शनमें आत्माकी अन्धकारमयी रजनी (दि डार्क नाइट आव् दि सोल) कहते हैं। किंतु दशरथजी इसके अपवाद थे। उनका स्नेहातिरेक भगवान्‌के प्रति था, इसलिये उनकी सद्गति हुई। वैराग्य, उपासना, दर्शन भगवान्‌के प्रति पुत्र-विषयक रति आदि मनोभावोंमें मनुका ज्ञान अग्रसर होता है। दूसरी ओर शतरूपा भक्तिस्वरूपिणी हैं। वे मनुके साथ ही उग्र साधना करती हैं। करुणानिधान भगवान्‌ने उनसे भी वरदान माँगनेके लिये कहा—

सतरूपहिं बिलोकि कर जोरें । देबि मागु बरु जो रुचि तोरें ॥

उस समय देवी शतरूपाने जो कहा, वह संत तुलसीदासके शब्दोंमें भक्तिकी सर्वोत्तम परिभाषा है । शतरूपा कहती हैं—

जो बरु नाथ चतुर नृप मागा । सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा ॥
प्रभु परंतु सुठि होत ढिठाई । जदपि भगत हित तुम्हहि सोहाई ॥
तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी । ब्रह्म सकल उर अंतरजामी ॥
अस समुझत मन संसय होई । कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई ॥
जे निज भगत नाथ तव अहहीं । जो सुख पावहिं जो गति लहहीं ॥
सोइ सुख सोइ गति सोइ भगति सोइ निज चरन सनेहु ।
सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु ॥
(१ । १४९ । २-४, १५०)

और यह सुनकर प्रभुने कहा—

जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं । मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं ॥
मातु बिबेक अलौकिक तोरें । कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें ॥
(१ । १५० । २-३)

इस प्रकार भक्तिके मनोविज्ञानमें प्रभुका आश्रय सब प्रकारसे मान्य हुआ है । शतरूपाका अलौकिक विवेक भक्तिके क्षेत्रमें शत-शत रूपोंमें प्रकट हुआ है ।

मनको प्रबोध

मनुवा सीख हमारी है ।
चूर चूर ह्वै ब्रजरज मिलिये ये ही सोभा सारी है ॥
सोता है बेहोस पड़ा क्या चलने की तैयारी है ।
'ललितकिसोरी' चरन-सरन रहु आखिर कुंजबिहारी है ॥

* * * *

मनुवा चलै मालती कुंजें ।
रूप सरोबर कमल लाडिली स्याम मधुप बनि गुंजे ॥
'ललितकिसोरी' निरखै दृग भरि आलीगन छबिपुंजे ।
सोने में क्या नफा बिचारा अट वृंदावन मुंजे ॥

* * * *

रे मन, कृष्णनाम कहि लीजै ।
गुरु के बचन अटल करि मानहि, साधु-समागम कीजे ॥
पढ़िये गुनिये भगति भागवत, और कहा कथि कीजै ।
कृष्णनाम बिनु जनमु बादिही, बिरथा काहे जीजै ॥
कृष्णनाम-रस बह्यो जात है, तृषावंत ह्वै पीजै ।
'सूरदास' हरिसरन ताकिये, जनम सफल करि लीजै ॥

* * * *

अब मन कृष्ण कृष्ण कहि लीजै ।
कृष्ण कृष्ण कहि कहिके जगमें साधु समागम कीजै ॥
कृष्ण नामकी माला लैके कृष्ण नाम चित दीजै ।
कृष्ण-नाम अमृत रस रसना तृषावंत ह्वै पीजै ॥
कृष्ण नाम है सार जगतमें कृष्ण हेतु तन छीजै ।
'रूपकुँवरि' धरि ध्यान कृष्णको कृष्ण कृष्ण कहि लीजै ॥

सच्चे भजनकी उत्कण्ठा कैसे जाग्रत् हो ?

(लेखक—'एक साधु')

जीवनमें अपने उद्देश्य-प्राप्तिकी अभिलाषाकी गरिमापर ही निर्भर करती है—सच्चे भजनकी उत्कण्ठा ।

परंतु यह प्रश्न बनता है वहीं, जहाँ भजन करनेकी उत्कण्ठा नहीं है । सम्पूर्ण इन्द्रियोंका, मन-बुद्धिका अपने इष्टदेवसे जुड़ जाना ही सच्चा भजन है । उसके बाद भी अहंता रहती है तो वह अपने-आप गलकर अपना अस्तित्व अपने इष्टदेवमें विलीन कर देती है—अथवा सर्वथा भावात्मक साँचेमें ढल जाती है । दूसरे शब्दोंमें—या तो अहंता रहती ही नहीं, यदि रहती है तो उसका रूप रहता है तथाकथित—मात्र कहनेभरको ही । जबतक पूरी गरिमा लालसाकी नहीं होती, तबतक सच्चा भजन होता ही नहीं । जिस भजनके लिये अभ्यास करना पड़ता है, उस भजनसे रसकी निष्पत्ति होनेमें देर लगती है और जिस भजनमें बढ़ती हुई लालसाका समावेश रहता है—भजन प्रिय लगने लगता है, उस भजनसे शीघ्रातिशीघ्र रसकी निष्पत्ति हो जाती है । इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि अगर प्रीतियुक्त भजन न होता हो तो हम अभ्यासका भजन भी छोड़ दें । अभ्यासका भजन भी सत्य परमात्मासे जुड़ जानेके कारण अन्तःकरणकी शुद्धिमें निमित्त बनता है और फिर अन्तःकरण शुद्ध होते ही भगवान्‌की कृपा उसमें प्रतिफलित हो ही जाती है । किसीके मनमें भजनकी लालसा हो और भजन न हो रहा हो—ऐसी बात नहीं हो सकती । किसी भी साधकमें लालसा नहीं है—सर्वथा नहीं है, यह तो नहीं कहा जा सकता है, पर भजनकी लालसा कितनी है और जगत्‌का आकर्षण कितना है—इन दोनोंमें किसकी, कैसी-कितनी प्रबलता रहती है—यही ध्यान रखनेकी वस्तु है ।

जैसे हम किसी प्रदर्शनीमें जाते हैं । वहाँ हमने सौ चीजें खरीदीं, किंतु उन सौ चीजोंमें सत्तानबे तो प्रदर्शनीकी ऐसी चीजें हैं, जिनका केवल जागतिक उपयोग ही हो सकता है—जैसे किसी दूकानसे खद्दरका थान खरीद लिया, कहींसे कुछ बर्तन ले लिये, खिलौने देखकर बच्चोंके लिये खिलौने खरीद लिये, दैनिक उपयोगके लिये काठकी बनी चीजें ले लीं, कुछ काँचके बर्तन खरीद लिये और क्रमशः सत्तानबेकी संख्या पूरी हो गयी । चलते-चलते देखा—बड़ा सुन्दर चित्रोंका संग्रह एक स्थानपर है; मनमें आया बड़ा सुन्दर चित्र है भगवान्‌का और ध्यान करनेलायक एक चित्र खरीद लिया । आगे बढ़े दिखायी पड़ा कि तुलसीकी मालाएँ बिक रही हैं; अच्छा, जपनेके लिये एक माला खरीद ली । बाहर निकलते-निकलते पुस्तकोंकी ओर दृष्टि गयी तथा हाथमें उठाकर देखनेपर लगा कि यह गीताकी पुस्तक है और हमने एक गीताकी पुस्तक खरीद ली । सारांश यह है कि जब हम सामानसे भरे झोलोंको लेकर प्रदर्शनीसे बाहर निकले, तब वजन तो उनमें बहुत अधिक था—कारतक पहुँचानेके लिये तीन-चार कुलियोंकी आवश्यकता थी, परंतु सत्तानबे चीजें थीं जागतिक ही और केवल तीन चीजें परमार्थसे सम्बन्धित—भगवान्‌का चित्र, माला एवं गीताकी पुस्तक । दूसरे शब्दोंमें—हमारी भगवान्‌के प्रति रुचि तीन प्रतिशत है और जगत्‌के लिये हमारा आकर्षण सत्तानबे प्रतिशत । बस, भजन होने और न होनेमें हेतु बनती है—अभिलाषाकी गरिमा । माला टूट जानेपर, गीता खो जानेपर दुःख हमें नहीं होता, यदि होता भी है तो नाममात्रका, परंतु खद्दरका थान खो जानेपर या जागतिक आकर्षणकी कोई वस्तु नष्ट हो जानेपर हम व्याकुल हो जाते हैं । बस, इसीलिये सारा रोना है ।

परब्रह्मोपलब्धि और योगमार्ग

(लेखक—डा० श्रीसर्वानन्दजी पाठक, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (द्वय), डी० लिट्०, काव्यतीर्थ, पुराणाचार्य)

सुखकी खोज आज ही नहीं, अनन्त और चिर अतीत कालसे हो रही है। प्रत्येक युगके मनुष्योंने सुखोपलब्धिकी अभिलाषा की है। मनुष्य सारे संसारका सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और हम भी मनुष्य हैं; अतः हमें मनुष्यकी ही सुखाभिलाषाका परिबोध होता है। वैसे तो संसारका प्रत्येक प्राणी ही सुखकी इच्छा करता है एवं उसकी उपलब्धिके लिये सतत सचेष्ट रहता है। वह कहीं भी हो, किसी भी अवस्थामें हो, अतीत, वर्तमान और भविष्यत् कालोंमें भी उसकी एक ही मुख्य कामना रहती है—किसी भी प्रकारसे सुख मिले और सुख भी कैसा हो? क्षणिक नहीं, अस्थायी नहीं—सदा, सर्वत्र और सर्वथा अनुभूयमान रहे। उसके हृदयमें निरन्तर यही चिन्ता—जिज्ञासा रहती है कि सुख कहाँ है और किस प्रकार वह उपलब्ध हो सकता है?

'सुख'के विपरीत अर्थका बोधक शब्द है 'दुःख'। दुःखकी कामना कोई भी प्राणी नहीं करता। दुःख क्षणिक भी क्यों न हो, पर उसके स्वागतके लिये किसीके अन्तः-करणमें ईषन्मात्र भी उत्साह या अवकाश नहीं। दुःखके नाममात्रसे हृदय उद्वेलित हो उठता है। इस अवस्थामें सुख और दुःख—इन दोनों परस्पर-विरोधार्थक शब्दोंका शाब्दिक एवं आर्थिक विवेचन करना आवश्यक है। 'सुख' और 'दुःख'—ये दोनों शब्द दो-दो अक्षरोंके संयोगसे सिद्ध हुए हैं—सु+ख=सुख और दुस्+ख=दुःख। इनमें प्रथम सुख शब्दके आदिमें स्थित 'सु'शब्दका अर्थ है—सुष्ठु, सुन्दर, अनुकूल या सर्वथा सम्पन्न। 'सुख' शब्दके अन्तिम वर्ण 'ख' का शब्दार्थ होता है—नगर, आकाश या सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड। द्वितीय दुःख शब्दस्थित दुः, दुस् या दुर्‌का शाब्दिक अर्थ होता है—असुष्ठु, असुन्दर, प्रतिकूल या सर्वथा असम्पन्न। सुख और दुःख—इन दोनों विरुद्धार्थक शब्दोंमें बहुव्रीहि समास है। यथा—सु—सुष्ठु, सुन्दरम्, अनुकूलम्, सर्वथा सम्पन्नं वा प्रतीयमानं खं—विश्वं येन यस्मिन् वा इति सुखम् और दुः—असुन्दरम्, प्रतिकूलम् अप्रियं वा प्रतीयमानं खं विश्वं येन यस्मिन् वा इति दुःखम्। इसीको भारतके दार्शनिक मनीषियोंने सूत्रात्मक या पारिभाषिक पद्धतिसे अभिव्यक्त किया है—"अनुकूलतया वेदनीयं सुखम्" और "प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्"[1]। अब सहज एवं स्वाभाविक यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि दुःखकी अनुपलब्धि कैसे हो तथा सुखकी उपलब्धि कहाँ और किस प्रकार हो?

आजका मानव सर्वथा सर्वत्र दुःखी और त्रस्त है। क्यों? सुखप्राप्तिके लिये वह धनका संचय करता है; वह विविध विलासके विविध साधन-सामग्री जुटानेमें संलग्न है एवं भौतिक पदार्थोंको ही सर्वस्व समझता है—इस आकाङ्क्षासे कि धनमें, विलास-साधनमें एवं भौतिक पदार्थोंमें उसे स्थायी सुख एवं शान्तिकी उपलब्धि होगी। पर आजके भौतिकवादी युगमें यथार्थतः कोई भी सुखी नहीं—न तो पूँजीपति और न धनहीन मजदूरवर्ग; क्योंकि पूँजीपतिको अपनी पूँजीकी परिरक्षा तथा उसकी अभिवृद्धिकी चिन्ता है और धनहीन मजदूरवर्गको अपनी क्षुधाशान्तिकी। न तो उपलब्ध धनमें सुख है और न धनहीनतामें ही सुख है। सर्वत्र दुःख-ही-दुःख है। मनुष्य सुखको पकड़नेकी जितनी चेष्टा करता है, सुख उससे उतना ही दूर भागता जाता है, अतः समस्याका कोई उचित समाधान नहीं मिलता। इसका एकमात्र कारण यही है कि मानवने अपनी मानवताकी सीमा तोड़कर दानवताकी परिधिमें प्रवेश कर लिया है। वह मानवताके सामान्य धरातलसे गिर रहा है और भौतिकताके जालमें फँसकर अध्यात्मभावको भूलता जा रहा है। यही उसकी अशान्तिका मूल कारण है। सुख संसारकी किसी वस्तु या पदार्थमें नहीं है, सुख तो मनस्तत्त्वका एक अवस्थाविशेष है और वह आत्मसाधनाके सतत अभ्याससे उपलब्ध हो सकता है। वैदिक ऋषियोंने स्पष्ट शब्दोंमें सुखके स्रोतका मार्ग-निर्देश किया है—"सुखका अनुसंधान उसके मूल स्रोतमें करो, जहाँ प्रकृत सुख हो—धनमें, जनमें और बलमें सुख नहीं है। जो पूर्ण है, भूमा एवं ब्रह्म है, वही वास्तविक सुख है। अल्पमें सुख नहीं, अल्पमें सुखकी भ्रान्ति है। पूर्ण ही सुख है—उसे

१. तर्कसंग्रह, पृ० ७१—७२

२. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति।
(छान्दोग्योपनिषद् ७। २३। १)

ही जाननेका प्रयत्न करो—निरन्तर अभ्यासमें लगे रहो। सुख तुमसे बाहर नहीं है, अपने ही अन्तरमें वह उपलभ्य है। तुम कस्तूरिकामृगके समान कस्तूरी-सुगन्धरूप सुखकी प्राप्तिके लिये बाहर मत भटकते रहो, वह सुरभि-सुख तुम्हारे ही अन्तरमें है, उसे अपने ही अन्तरमें खोजना चाहिये।" वास्तवमें सच्चे और अनन्त सुखका आधार भूमा अर्थात् परब्रह्म ही है। उस ब्रह्मका साक्षात्कार अथवा उपलब्धि हो जानेपर और कुछ भी उपलभ्य नहीं रह जाता; अनन्त परितृप्ति हो जाती है—हृदयकी ग्रन्थि खुल जाती है; सम्पूर्ण संशय छिन्न हो जाते हैं और उस सफल साधक-योगीके अशेष कर्मफलोंका सर्वथा क्षय हो जाता है। वह योगी जन्म-मरणजनित दुःखसे मुक्त हो जाता है[3]। इतना ही नहीं, जिस साधक योगीका चित्त परब्रह्म, परमात्मा, परमतत्त्व या परमेश्वरमें सर्वतोभावेन संलग्न हो गया उसके कुल—पितृकुल और मातृकुल दोनों पवित्र हो गये, उसकी जन्मदात्री माता कृतार्थ—कृतकृत्य हो गयी; सारी वसुन्धरा पुण्यफलाधिकारिणी बन गयी। यही है महान् परिणाम अपार सच्चिदानन्दरूप सुखसागरमें गोता लगानेका, परब्रह्मके साक्षात्कारका[4]।

परब्रह्मका स्वरूप

ब्रह्मका शाब्दिक अर्थ होता है—निरतिशय वर्धमान लक्षणसे युक्त। यह शब्द परमात्मा, परमेश्वर, परमतत्त्व और परब्रह्म आदि परमचेतन, परमोत्कृष्ट, नित्यसत्यतत्त्वका वाचक है। इसकी व्युत्पत्ति वर्धनार्थक भ्वादिगणीय 'बृंह' धातुके साथ 'मनिन्' प्रत्ययके योगसे हुई है। प्रकृति और प्रत्ययसे निष्पन्न मूलतः 'ब्रह्मन्' शब्द है। व्याकरणशास्त्रमें समस्त 'न्' अन्तवाले शब्दोंको अकारान्त भी माना गया है। अतः 'ब्रह्मन्' शब्द 'ब्रह्म' के रूपमें स्वीकृत है[5]। उत्तरमीमांसा, वेदान्त तथा गीतादि उपनिषदोंके अतिरिक्त पौराणिक वाङ्मयमें भी परब्रह्म या ब्रह्मके स्वरूपका विवेचन हुआ है। वैकुण्ठवासी साक्षात् भगवान् हरिकी परब्रह्मके निरूपणमें उक्ति है—"परब्रह्मका ज्ञान तत्त्वोंका सारभूत तत्त्व है, अज्ञानान्धकारसे अन्धे हुए लोगोंके लिये नेत्ररूप है तथा दुविधा अथवा द्वैत नामक भ्रमरूप अन्धकारका नाश करनेके लिये सर्वोत्तम प्रदीपके समान है। सनातन परब्रह्म परमात्म-स्वरूप है। वह देहधारियोंके कर्मोंके साक्षी रूपसे समस्त शरीरोंमें विराजमान है। प्रत्येक शरीरमें पञ्च प्राणोंके रूपमें साक्षात् भगवान् विष्णु विद्यमान हैं। मनके रूपमें प्रजापति ब्रह्मा विराजमान हैं। सम्पूर्ण ज्ञान (बुद्धि) के रूपमें स्वयं मैं (हरि ही) हूँ तथा शक्तिके रूपमें ईश्वरीय प्रकृति व्याप्त है। हम सब-के-सब परब्रह्मके अधीन हैं। शरीरमें ब्रह्मके स्थित होनेपर ही हम स्थित होते हैं और उसके चले जाने (सम्बन्ध हटा लेने) पर हम भी चले जाते हैं। जैसे राजाके सेवक सदा राजाका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार हम उस परमात्माके अनुगामी बने रहते हैं। जीव परमात्माका ही प्रतिबिम्ब है। वही कर्मोंके फलका उपभोग करता है। जैसे जलसे पूरित घटोंमें पृथक्-पृथक् सूर्य और चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब होता है तथा उन घटोंके फूट जानेपर वह प्रतिबिम्ब फिर सूर्य और चन्द्रमारूप बिम्बमें लीन हो जाता है उसी प्रकार सृष्टिकालमें परमेश्वरके प्रतिबिम्ब-स्वरूप जीवकी उपलब्धि होती है तथा सृष्टिमयी उपाधि या आवरणके नष्ट हो जानेपर वह प्रतिबिम्ब-स्वरूप जीव पुनः सर्वव्यापी परमात्मा—परब्रह्ममें लीन हो जाता है[6]।

---

३. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
(मुण्डकोपनिषद्, २। २। ८)

४. कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारसच्चित्सुखसागरेऽस्मि-
ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥
(वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, ई० उ० प्रस्तावना, पृ० ७)

५. बृंहति वर्धते निरतिशयमहत्त्वलक्षणवृद्धिमान् भवति, बृंह मनिन्, नकारस्याकारः रत्वं च ये ये नान्ताः ते ते अकारान्ता अपि इत्युक्तेः अकारान्तोऽयं शब्दः।
(संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ, पृ० ८१०)

६. सारभूतं च तत्त्वानामज्ञानान्धकलोचनम्।
द्वैतभ्रमतमोध्वंससुप्रकृष्टप्रदीपकम्॥
परमात्मस्वरूपं च परं ब्रह्म सनातनम्।
सर्वदेहस्थितं साक्षिस्वरूपं देहिकर्मणाम्॥
× × ×
परमानन्दरूपं च परमानन्दकारणम्।
परं प्रधानं पुरुषं निर्गुणं प्रकृतेः परम्॥
तत्रैव लीना प्रकृतिः सर्वबीजस्वरूपिणी॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्मखण्ड, २८। ११–२२)

संसारका संहार हो जानेपर एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही शेष रहता है। देवताके सहित यह सारा चराचर जगत् उसीमें लीन हो जाता है। वह ब्रह्म मण्डलाकार ज्योतिःपुञ्जस्वरूप है। ग्रीष्मऋतुके मध्याह्नकालमें प्रकट होनेवाले कोटि-कोटि सूर्योंके समान उसका प्रकाश है। वह अनन्त आकाशके समान विस्तृत, सर्वत्र व्यापक तथा अविनाशी है। योगीजनोंको ही वह चन्द्रमण्डलके समान सुखपूर्वक दृग्गोचर होता है। योगी उसे सनातन ब्रह्म कहते हैं। अहर्निश वे उस सर्वमङ्गलमय सत्यस्वरूप परमात्माका ध्यान करते हैं। वह परमात्मा निरीह, निराकार तथा सबका ईश्वर है। उसका स्वरूप उसकी इच्छाके अनुसार है। वह स्वतन्त्र तथा समस्त कारणोंका भी कारण है। परमानन्दस्वरूप तथा परमानन्दकी प्राप्तिका हेतु है। सबसे उत्कृष्ट, प्रधान पुरुष (पुरुषोत्तम), प्राकृत गुणोंसे रहित तथा प्रकृतिसे परे है। प्रलयकालमें उसी (ब्रह्म) में सर्वबीजस्वरूपिणी प्रकृति लीन हो जाती है—ठीक उसी तरह, जैसे अग्निमें उसकी दाहिका शक्ति, सूर्यमें प्रभा, दुग्धमें धवलता और जलमें शीतलता लीन रहती है। जैसे आकाशमें शब्द और पृथ्वीमें गन्ध सदा विद्यमान है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्ममें निर्गुण प्रकृति सर्वदा स्थित है। जब ब्रह्म सृष्टिके लिये उन्मुख होता है, तब वह अपने अंशसे 'पुरुष' कहलाता है। वही गुणों—विषयोंसे सम्बन्ध स्थापित करनेपर प्राकृत एवं विषयी कहा गया है। त्रिगुणा प्रकृति उस परमात्मामें ही उत्कृष्ट छायारूपिणी मानी गयी है। जैसे कुम्भकार मृत्तिकासे कुम्भनिर्माणमें सदा ही समर्थ होता है, उसी प्रकार वह ब्रह्म प्रकृतिके द्वारा सृष्टिनिर्माणमें सदा समर्थ है। जैसे स्वर्णकार स्वर्णसे कुण्डलनिर्माणकी शक्ति रखता है उसी तरह परमेश्वर उपादानभूता प्रकृतिके द्वारा सदा सृष्टि-निर्माणमें समर्थ है। जैसे कुम्भकार मृत्तिकाका स्वयं निर्माण नहीं करता, मृत्तिका उसके लिये नित्य एवं सनातन है तथा जैसे स्वर्णकार स्वर्णकी सृष्टि नहीं करता, स्वर्ण उसके लिये नित्य वस्तु है, उसी प्रकार वह परब्रह्म परमात्मा नित्य है और वह प्रकृति भी नित्य मानी गयी है। अतः कुछ लोग सृष्टिके निर्माणमें उन दोनोंकी ही समान रूपसे प्रधानता बतलाते हैं। कुम्भकार और स्वर्णकार स्वयं मृत्तिका और स्वर्ण उत्पन्न करके लानेमें समर्थ नहीं हैं तथा मृत्तिका और स्वर्ण भी कुम्भकार और स्वर्णकारको ले आनेकी शक्ति नहीं रखते। अतः मृत्तिका और कुम्भकारकी घटमें तथा स्वर्ण और स्वर्णकारकी कुण्डलमें समानरूपसे प्रधानता है।[७]

जिस प्रकारके स्थायी सुख या आनन्दकी कामना हम करते हैं, उस प्रकारका सुख या आनन्द तो परब्रह्म परमात्मामें ही उपलभ्य है। परब्रह्म ही परम सुख या परमानन्दका अनन्त सागर है; अक्षय भण्डार या असीम स्रोत है। संसारी जीव सांसारिक विषयवासना—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द—में मनोरूप करणके सहयोगसे जो क्षणिक सुखानन्दकी अनुभूति पाता है, वह अवर्णनीय सुखानन्द भी उसी ब्रह्मानन्दसागरका एक लघुतम अंशमात्र है। जिस सिद्ध भाग्यशाली योगी—पहुँचे हुए साधकको साक्षात् परमात्मोपलब्धि हो गयी—ब्रह्मानन्दकी अनुभूति हो गयी, वह तो मुक्त ही हो गया—सदा-सर्वदाके लिये जन्म-मरण-जनित पीड़ासे छुटकारा पा गया। समाधिसिद्ध साधक समाधिभङ्गावस्थामें समाधिकालिक स्वानुभूत परम सुख—परमानन्दका स्पष्ट वर्णन करनेमें सर्वथा असमर्थ हो जाता है; क्योंकि अब उसके पास न तो वैसी अलौकिक वाणी है और न शब्द ही, जो उस अलौकिक सुखानन्दके सार्वत्रिक वर्णनमें सहायक हो सके। भगवान्का ऐसा ही वचन भी है—

'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।'

(गीता १५। ६)

लौकिक दृष्टान्तमें—मूक—गूँगेको यदि मिसरी खिलाकर उससे भुक्त मिसरीके स्वादका वर्णन करनेको कहा जाय तो गूँगा अपनी वाक्-शक्तिके अभावमें मिसरीके स्वाद-वर्णनमें सर्वथा असमर्थ हो जाता है। ठीक यही अवस्था हो जाती है समाधिकी भङ्गावस्थामें योगीकी।

अब साधनोन्मुख प्रत्येक मनुष्यके मनमें यह स्वाभाविक जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि उपरिवर्णित अव्यय ब्रह्मानन्दकी

---

७. यथाग्नौ दाहिका शक्तिः प्रभा सूर्ये यथा मुने।
यथा दुग्धे च धावल्यं जले शैत्यं यथैव च॥
यथा शब्दश्च गगने यथा गन्धः क्षितौ सदा।
तथा हि निर्गुणं ब्रह्म निर्गुणा प्रकृतिस्तथा॥
× × ×
तस्मात्तद् ब्रह्म प्रकृतेः परमेव च नारद।
इति केचिद् वदन्त्येव द्वयोश्च नित्यता ध्रुवम्॥
(वही २३-३२)

उपलब्धि कैसे हो ? इस परमोपलब्धिके लिये कौन-सा साधनोपकरण सहायक हो सकता है ? ऐसे जिज्ञासामय प्रश्नका समाधान अनुभवी एवं आप्त योगीसे प्राप्त हो सकता है अथवा प्राचीन आर्यवाङ्मयोंके परिशीलनसे। हमारे-जैसे लोगोंके लिये आदर्श और आधार तो शास्त्र ही हैं।

जीवात्माके लिये जनन-मरणका सांसारिक बन्धन दुःखका हेतु है और उस बन्धनसे मुक्ति परम श्रेष्ठ सुखका हेतु है। प्राणी मनके द्वारा ही आत्मदौर्बल्यके कारण सांसारिक जालमें फँसकर दुःखभागी बनता है और मनके द्वारा ही आत्मबलसे मुक्तिका अधिकारी होकर परमः शान्ति उपलब्ध करता है। मनकी भी दो अवस्थाएँ होती हैं—मन यदि विषया—इन्द्रियोंका किंकर संगी हो गया तो वह जीवको बन्धनमें डाल देता है और इसके विपरीत यदि वही मन निर्विषय होकर रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द—इन मोहन पञ्चविषयोंके प्रलोभनसे अलग रहा तो बद्ध जीवात्माको अखण्ड मुक्त्यानन्दकी उपलब्धि होती है[८]। परंतु मन है अतिशय चञ्चल और महाहठी; वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंको झकझोर डालता है। अतः उसको नियन्त्रित करना प्रचण्ड वायुवेगको रोकनेके समान अति कठिन कार्य है, सुगमतासे उसका नियन्त्रण सम्भव नहीं[९]। विद्वान्‌को उचित है कि वह सावधान होकर दुष्ट घोड़े जुते हुए रथके समान इस मनको स्थिर करे[१०]। जैसे पत्तेपर पड़े हुए जलकी बूँद स्थिर नहीं रहती—सब ओरसे चञ्चल रहती है, वैसे ही प्रारम्भिक योगीका मन ध्यान-मार्गमें चञ्चल रहता है[११]। पुनः इन्द्रिय-देवता सर्वथा मनके वशमें रहते हैं, परंतु मन किसी दूसरेके वशमें नहीं रहता, वह सर्वतोभावेन सर्वत्र स्वतन्त्र है। मन महाबलवान् और साथ-ही-साथ अतिशय भयंकर भी है। जो साधक अपने मनको वशमें कर लेता है, वह तो देवताओंका भी देवता है[१२]। मनकी चञ्चलता और दुर्विजेयताको साक्षात् भगवान्‌ने भी स्वीकार किया है, पर उसे वशमें लाकर उसपर विजय प्राप्त करनेके उपाय बतलाते हुए कहा है कि 'दुर्विजेय मनको जीतनेके दो साधन हैं—एक सतत इन्द्रिय-विषयोंपर संयम रखते हुए निरन्तर अभ्यासमें लगे रहना और दूसरा वैराग्य—संकल्प अथवा मनःकामनाओंका त्याग तथा विषय-भोगोंमें अनासक्तिके साधनसे योगी धीरे-धीरे स्थिर बुद्धिसे मनको वशमें कर सकता है[१३]। अभ्यास एवं वैराग्यके द्वारा मनोनिरोध होता है, इस मान्यताको महर्षि पतञ्जलिने भी अङ्गीकृत किया है। महर्षिका प्रतिपादन है कि योगीको उसमें शाश्वत प्रतिष्ठानके लिये निरन्तर यत्नशील रहना चाहिये[१४] एवं दृष्ट और श्रुत पञ्चेन्द्रिय-विषयोंमें तृष्णारहित होनेसे मनका वशीकरण हो जाता है[१५]।

---

८. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासंगि मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥
(विष्णुपुराण ६। ७। २८)

९. चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
(भगवद्गीता ६। ३४)

१०. दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः।
(श्वेताश्वतरोपनिषद् २। ९)

११. जलबिन्दुर्यथा लोलः पर्णस्थः सर्वतश्चलः। एवमेवास्य चित्तं च भवति ध्यानवर्त्मनि॥
(महाभारत १२। १९५। १२)

१२. मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा मनश्च नान्यस्य वशं समेति।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान् युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः॥
(श्रीमद्भागवत ११। २३। ४८)

१३. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(भगवद्गीता ६। ३५)

१४. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।
(योगसूत्र १। १२-१३)

१५. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। (वही १। १५)

प्रार्थना

[प्राणेश्वर प्रभुसे]

प्रभुपर विश्वास बढ़े

प्रभो ! शास्त्र कहता है, संत कहते हैं और इनके ही संस्कारोंसे भावित बुद्धि भी कहती है कि 'तुम सर्वगत हो, सर्वव्यापक हो।' कोई भी ऐसा देश, काल या पदार्थ नहीं, जिसमें तुम्हारी सत्ता न हो, जहाँ तुम्हारा लीलाविहार न चल रहा हो। अणु-परमाणुसे लेकर परम महान् तक सब कुछ तुम्हीं हो, तुमसे भिन्न किसी वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है। सत्ता या अस्तित्व तुम्हारा ही स्वरूप है। जो सत् नहीं वह अभावरूप है, शून्य है, अस्तित्वविहीन है; वह कभी भावरूप नहीं हो सकता। जो सत् है, वही भाव है, वही महाभाव है, वही रस है और वही रसराज है। श्रुति तुमको ही रसरूप बताती है—'रसो वै सः।' रसको आनन्दमय कहा गया है। इसको पाकर ही जीव आनन्दित होता है—'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (तैत्ति० २।७)। जगत्‌में जहाँ जिसे जितना और जैसा भी आनन्द सुलभ होता है, वह रसरूप आनन्द-सिन्धुका ही क्षुद्रतम कण है, अंश है। वह तुम्हीं हो; तुम सबमें हो, अतः तुम्हारे ही रसस्वरूप आनन्दसुधा-सिन्धुका किंचिन्मात्र कण पाकर सबको सुख या आनन्दकी अनुभूति होती है। उस आनन्दकी अभिव्यक्तिका माध्यम जो कुछ भी हो, किंतु है वह तुम्हारी ही रस-तरङ्गका एक छींटा। यह रसानुभूति या आनन्दका समास्वादन तुम्हारे अस्तित्वका प्रत्यक्ष प्रमाण है। नाथ ! तुम ऐसी कृपा करो, जिससे मैं तुम्हें सर्वगत देख सकूँ और तुम्हारे रससिन्धुमें सदा अवगाहन कर सकूँ; तुम्हारी अगाध सत्तापर मेरा अविचल विश्वास सदैव बना रहे।

जैसे तुम सर्वगत हो, वैसे ही सर्वशक्तिमान् भी हो। सम्पूर्ण शक्तियोंके आधार या केन्द्र तुम्हीं हो। वे शक्तियाँ तुममें आधाराधेय-भाव सम्बन्धसे नहीं, स्वरूप-सम्बन्धसे अनुगत हैं। शक्तियोंके साथ तुम्हारा अद्वैतभाव है। तुम शक्तिरूप ही हो। तुम्हें 'शक्तिमान्' कहना औपचारिक है। जब सब कुछ तुम्हीं हो, तुमसे भिन्न कुछ है ही नहीं, तब शक्तियाँ तुमसे भिन्न कैसे सिद्ध हो सकती हैं। तुम स्वयं सर्वशक्त हो—'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ' हो। तुम्हारे कोशमें दुष्कर या असम्भव शब्द नहीं है, तुम सब कुछ कर सकते हो। तुम्हारा यह कर्तृत्व न तो देशकालकी अपेक्षा रखता है, न कारण-सामग्रीकी; तुम क्रियामें निर्बाध स्वातन्त्र्यसे विवक्षित अर्थ हो, अतएव 'स्वतन्त्र कर्ता' हो। महर्षि पाणिनिने तुम्हींको ध्यानमें रखकर 'स्वतन्त्रः कर्ता' सूत्रका निर्माण किया है। सृष्टि, पालन और संहार तुम्हारा सहज कर्म है। तुम यह सब कुछ स्वेच्छासे ही करते हो, कहीं भी तुम्हारी परतन्त्रता नहीं है। मेरे नाथ ! तुम सर्वशक्तिमान् और स्वतन्त्र कर्ता हो, सब कुछ करनेमें समर्थ हो। नियतिके विधानको भी टाल सकते हो। भारी-से-भारी संकट, रोग और विपत्तियोंसे छुटकारा दिला सकते हो। तब तुम्हारे रहते किसीको किसी भी बातके लिये चिन्ता क्यों होनी चाहिये ? भवभयहारीके रहते हमें भयभीत क्यों होना चाहिये ? भगवन् ! ऐसा बल, विवेक, और बुद्धि दो, जिससे हम तुम्हारी सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वभयहारितापर अखण्डनीय विश्वास रखते हुए सर्वदा और सर्वथा निश्चिन्त एवं निर्भय रह सकें।

यह निश्चित है कि जो सर्वगत है, सर्वशक्तिमान् है, वह सर्वज्ञ भी है ही। भूत, भविष्यत् और वर्तमान—ये तीनों काल तुम्हारे समक्ष ही घटित होते हैं। अतः तुम्हारे लिये नित्य वर्तमान हैं। प्रत्यक्ष-

घटित वस्तुका द्रष्टा उसका ज्ञाता होगा ही। तुम सर्वज्ञ हो, इसलिये सब कुछ जानते हो। कब क्या करना है, नहीं करना है या अन्यथा करना है, यह सब तुम्हें नित्य विदित है। फिर तुमसे कुछ कहकर बतानेकी क्या आवश्यकता है? रो-रोकर दुःखगाथा सुनानेकी क्या जरूरत है? हम जो कुछ कहना या बताना चाहते हैं, वह सब तो तुम्हें पहलेसे ही ज्ञात है। तो भी 'आरत कें चित रहत न चेतू।' के अनुसार हम निर्बल प्राणी अपना दुखड़ा तुम्हें सुना ही देते हैं और अपनी ही रुचिके अनुसार तुमसे काम लेना चाहते हैं। यह महान् अपराध है। दयासिन्धु! इस अपराधको क्षमा करना। अपनी सर्वज्ञतापर हमारा अटूट विश्वास बनाये रखना।

शास्त्र और संत यह डंकेकी चोट कहते हैं कि 'तुम उपर्युक्त विशेषणोंसे विशिष्ट होनेके साथ ही परम दयालु हो।' तुमसे जीवका कष्ट देखा नहीं जाता। तुम सबके उद्धारके लिये सदा ही उद्यत रहते हो। पानीमें डूबते हुए हाथीने पुकारा और तुम उसके सच्चे साथी बनकर चक्र लिये आ पहुँचे। कौरव-सभामें नग्न होती हुई पाण्डववधूने पुकारा और तुम उसकी लाज बचानेके लिये वस्त्रोंके अम्बार लिये तत्क्षण तैयार मिले। विष देनेवाली राक्षसीको भी तुमने अमृत-पद प्रदान किया, माताकी सद्गति दी। तुमसे बढ़कर दीनानाथ, दीनबन्धु और दीनदयालु कौन हो सकता है। तुम तो गीताके शब्दोंमें पुकार-पुकारकर कहते हो—'सब धर्मोंको छोड़कर मेरी शरणमें चले आओ। मैं तुम्हें सब दुःखोंसे छुड़ा दूँगा, चिन्ता मत करो।' परंतु हम ऐसे अधम हैं, कि तुम्हारे इस प्रेमाह्वानको सुनते ही नहीं। भगवन्! हमारी इस धृष्टतापर रुष्ट न होना। स्वयं ही अन्तर्यामी रूपसे प्रेरणा देकर हमें अपने चरणोंकी शरणमें बरबस बुला लेना। हम तुम्हारी सर्वव्यापकताको समझें, सर्वशक्तिमत्तापर विश्वास करें, सर्वज्ञताका अनुभव करें और परम दयालुताको हृदयङ्गम करके तुम्हारे चरणोंपर अपने-आपको निछावर कर दें—इतनी कृपा अवश्य करो, प्राणेश्वर प्रभो!

—तुम्हारा ही एक अकिंचन

कुन्तीकी श्रीकृष्णसे प्रार्थना

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥
जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचनगोचरम्॥
नमोऽकिंचनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः॥

(श्रीमद्भागवत १।८।२५–२७)

'जगद्गुरो श्रीकृष्ण! हम लोगोंके जीवनमें सर्वदा पद-पदपर विपत्तियाँ आती रहें; क्योंकि विपत्तियोंमें ही निश्चितरूपसे आपके दर्शन हुआ करते हैं और आपके दर्शन होनेपर फिर पुनर्जन्मका चक्र मिट जाता है। ऊँचे कुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्या और सम्पत्तिके कारण जिसका मद बढ़ रहा है, वह मनुष्य तो आपका नाम भी नहीं ले सकता; क्योंकि आप तो अकिंचन लोगोंको दर्शन देते हैं। आप अकिंचनोंके (जिनके पास कुछ भी अपना नहीं है, उन निर्धनोंके) परम धन हैं। आप मायाके प्रपञ्चसे सर्वथा निवृत्त हैं, नित्य आत्माराम और परम शान्तस्वरूप हैं। आप ही कैवल्यमोक्षके अधिपति हैं। मैं आपको नमस्कार करती हूँ।'

गीता सर्वाङ्गसुन्दर ग्रन्थ है

(संत श्रीविनोबा भावे)

मैं मानता हूँ कि गीता एक निर्विवाद आत्मानुभवका ग्रन्थ है, जिसमें सभी विचारोंका सामञ्जस्य सधा हुआ है। अनेक भाषाओंके अपने व्यापक अध्ययनमें मैंने ऐसा दूसरा ग्रन्थ देखा ही नहीं।

गीता निष्कामताका पाठ पढ़ाती है। वह निष्कामताका ग्रन्थ है, जीवनका मन्त्र है। समर्थ रामदास कहते हैं—'सकामासी नावडे गीता', अर्थात् कामना रखनेवालेको गीता पसंद ही नहीं पड़ती। सचमुच ऐसा ही यह अद्भुत ग्रन्थ है। अपना जीवन निष्काम बनाना ही गीताका लक्ष्य है। अर्जुनने पूछा—'स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है, कैसे चलता है, कैसे घूमता है?' इसीको भगवान्‌ने गीतामें बताया है। यानी स्थितप्रज्ञ-सा चलने-बोलनेका बोध गीता देती है। यही उसकी प्रवृत्ति है। उसी स्थितप्रज्ञ ज्ञानीकी वृत्तिका अनुकरण होना चाहिये, यही गीता बतलाती है। सच्चा ज्ञानी कभी भी एकाङ्गी नहीं होता। वह जीवनके सभी अङ्गोंका संतुलित विचार करता है। उसकी प्रवृत्तिमें साम्य आ जाता है; कभी किसी प्रकारका अतिरेक नहीं पाया जाता। उसका बोलना, बैठना, उठना, लिखना, पढ़ना आदि हर कृति अनुकरणीय हुआ करती है। जो ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण ज्ञानी हो, उसीको आदर्श मानना गीताका लक्ष्य है। भगवद्गीता एक जीवन-ग्रन्थ है। वह मात्र शब्दशास्त्र नहीं है। इसलिये उसके अनुकूल ही अपना जीवन बनाना चाहिये।

जैसे कोई चित्रकार चित्र बनाता है तो सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें समता रखता और सर्वाङ्गसुन्दर चित्र बनाता है। जहाँ-जहाँ उसे सुन्दरता मिलती है, वहाँ-वहाँसे सुन्दरता लेकर उसे वह चित्रमें इकट्ठा करता—सबको चित्रमें जोड़ देता है, तब वह चित्र सर्वाङ्गसुन्दर बनता है। गीतामें भी ऐसा ही हुआ है। उपनिषदूसे ज्ञान, योगशास्त्रसे समत्वबुद्धि, भक्तिमार्गसे भक्ति, वेदसे ध्यान, सांख्य-न्यायशास्त्रसे सृष्टि-विषयक विज्ञान और स्मृतिकारोंसे आचार भी लिया। अनुभवियोंसे जो अनुभव मिला, उसे भी ले लिया। 'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'—ब्रह्मविद्याकी बुनियादपर गीतामें योगशास्त्रका मकान खड़ा किया गया है। भक्ति, ज्ञान और कर्मकी दीवारें बनायी गयी हैं और उस मकानके शिखरपर भगवत्-शरणागतिका कलश चढ़ाया गया कि 'सब छोड़ अन्तमें मेरी शरण आ जा।' इस तरह यह एक सर्वाङ्गसुन्दर मन्दिर खड़ा किया गया है, जिसके आश्रयमें हम सदैव सुखसे रह सकते हैं।

गीता विश्वव्यापक धर्म और विश्वव्यापक विचारका ग्रन्थ है। इसके शब्द अत्यन्त व्यापक हैं। वे बच्चोंके भी काम आते हैं और बूढ़ोंके भी। इस दुनियाके भी कामके हैं और उस दुनियाके भी। वे संसारमें काम करनेवाले लोगोंके उपयुक्त हैं और मोक्षपरायण निवृत्त मनुष्यके भी उपयुक्त। यह ग्रन्थ सुखमें मदद पहुँचाता है और दुःखमें भी। प्रतिक्षण राह दिखाता है और किसीपर आक्रमण नहीं करता। जिसकी जैसी मनोदशा हो, उसीके अनुरूप उन्नतिकारक बोध उसे इस ग्रन्थसे मिलता है। इसलिये सबको इसका अध्ययन करना चाहिये।
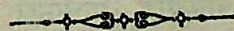
हमारे अर्चा-विग्रह धातु या पाषाण नहीं हैं

[भगवदनुग्रहका विचित्र अनुभव]

(लेखक—गो० द्वा० (सेठ) श्रीगोविन्ददासजी)*

जिस अद्भुत अनुभवका मैं आज विवरण दे रहा हूँ, पहले उसकी पृष्ठभूमिके सम्बन्धमें कुछ कहना अनुपयुक्त न होगा।

हमारा कुटुम्ब सनातन-धर्मके श्रीवल्लभ-सम्प्रदायका अनुयायी है। मेरे पितामह राजा श्रीगोकुलदासजीके पितामह सेठ श्रीसेवारामजी लगभग पौने दो सौ वर्ष पूर्व राजस्थानके जैसलमेर नगरसे मध्यप्रदेशके जबलपुर नगरमें आकर बसे। हमारे मकानका कुछ हिस्सा उन्हींके समय निर्मित हुआ था। हमारा श्रीगोपाललाल-जीका कौटुम्बिक मन्दिर उन्होंने ही प्रतिष्ठित किया था। इस मन्दिरकी स्थापनाको १४० वर्षसे अधिक हो चुके हैं। तबसे हमारे कुटुम्बी श्रीवल्लभ-सम्प्रदायमें ही दीक्षित होते रहे हैं। मेरा जन्म भी उसी वायुमण्डलमें हुआ। उसी वातावरणमें मेरा लालन-पालन हुआ। जबसे मुझे होश है, तबसे सनातनधर्मके संस्कारोंका मुझपर प्रभाव रहा है। मेरा यज्ञोपवीत जब मैं दस वर्षका था, तब हुआ था। उस समय राजा साहब जीवित थे। उन्होंने उसी दिन एक पण्डितजीको रखा था, जिन्होंने मुझसे उसी दिनसे संध्योपासना करवायी। इसके पूर्व लगभग पाँच वर्षकी अवस्थामें विष्णुसहस्रनाम, नारायण-कवच-स्तोत्र आदि मुझे कण्ठस्थ करा दिये थे और कुछ होश आते ही मैं अपनी दीक्षाके **'श्रीकृष्णः शरणं मम'**—मन्त्रका जप करने लग गया था।

कुछ वर्ष पूर्व मुझपर एक अप्रत्याशित भीषण दैवी आघात हुआ। मेरे छोटे पुत्र जगमोहनदास, जो मध्यप्रदेशमें लगभग नौ वर्षतक मन्त्री रह चुके थे, एकाएक चल बसे। किसी प्रकार शान्ति प्राप्त करनेके लिये मैं देशभरमें भटका; अनेक महात्माओंसे मिला।

अध्यात्मका यह अवलम्ब बढ़ता गया। मैंने उषःकालमें ही उठकर स्नान, संध्या, पूजा आदि आरम्भ की। तारोंके रहते हुए प्रातःकालकी संध्या हो जाना उत्तम माना जाता है। अतः यद्यपि गत चौसठ वर्षोंसे मेरी त्रिकालसंध्या चल रही थी, तथापि अब वह ठीक समयपर होने लगी। श्रीवल्लभ-सम्प्रदायमें भगवान्‌के अर्चा-विग्रहके छः दर्शन होते हैं। जबलपुर रहते हुए मैं अपने कौटुम्बिक मन्दिरके छहों दर्शन करने लगा और अपनी दीक्षाके मन्त्र—**'श्रीकृष्णः शरणं मम'** का निरन्तर जप; यद्यपि बीच-बीचमें वह विस्मृत भी हो जाता है।

*** विधिका विधान! सम्मान्य सेठ श्रीगोविन्ददासजी आज हमारे बीच नहीं रहे। वे इसी मास गोलोकधामवासी हो गये। वे बड़े ही निष्ठावान् वैष्णव थे। भारतीय अध्यात्म, धर्म, संस्कृति, भाषा आदिके कट्टर हिमायती थे। सिद्धान्तोंमें शुद्ध गांधीवादी और कांग्रेसके वरिष्ठ सदस्य होते हुए भी उन्होंने कभी किसी मन्त्रि-पदको स्वीकार नहीं किया। हिंदीको राष्ट्रीय स्तरपर प्रतिष्ठित करनेमें उनकी सेवाएँ अद्वितीय हैं। गोहत्या-निवारण एवं गो-संवर्धनके कार्योंमें वे सदा उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। गीताप्रेस एवं 'कल्याण'-परिवारके प्रति उनकी सदासे ही बड़ी आत्मीयता और कृपा रही है। इन पंक्तियोंके माध्यमसे हम अपने सम्मान्य बन्धुके प्रति हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।—सम्पादक**

इस प्रकारके संस्कारोंमें लालित-पालित होनेपर और निरन्तर संध्या-पूजा, जप-पाठ, दर्शन आदि चलते रहनेपर भी आधुनिक कालके वायुमण्डलका भी मुझपर कतई असर न हो, यह बात नहीं थी। अनेक बार मुझे ईश्वरके अस्तित्वपर संशय होता और लगता कि यह सब निरर्थक ही तो नहीं है ?

सन् १९७०ई० की पहली जुलाईकी रातको जबलपुरमें मैं अपनी पत्नीके कमरेमें बैठा हुआ था। मेरी पत्नी और मेरी बड़ी पुत्री रत्नकुमारी दोनों वहाँ उपस्थित थीं। रत्नकुमारीने एकाएक मुझसे पूछा—'आप इतना सब करते हैं, आपको कोई अनुभव हुआ ?' मुझे झुँझलाहट हुई और मैंने उसे उत्तर दिया—'न मुझे कोई अनुभव हुआ और न होनेवाला है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि पत्थरके सामने यह सब कर रहा हूँ, क्या अनुभव हो सकता है ? सभी निरर्थक हैं। किंतु अब जीवनका निशाकाल है, अतः जो कुछ कर रहा हूँ, उसे छोड़ूँगा कभी नहीं।'

२ जुलाईको वह अद्भुत अनुभव हुआ, जिसकी यह उपर्युक्त पृष्ठभूमि है। जब मैं श्रीगोपाललालजीके मन्दिरमें 'मंगला'के दर्शनके लिये गया तो मुझे भान हुआ कि श्रीगोपाललालजीके मुखपर कुछ मुस्कराहट-सी है। मेरा पुराना संदेह लौटा। मनमें आया—यह निरा भ्रम है, कहीं पत्थर भी मुस्करा सकता है ?

'राजभोग'के दर्शनोंमें जब आरती हो रही थी और मैं घण्टा बजा रहा था, तब एकाएक मेरे कानोंमें ये वाक्य गूँजे—'तुम मुझे पत्थरका समझते हो ? सेवारामजीसे लेकर तुम्हारी सारी पीढ़ियोंको मैंने तारा है। स्वामी रामकृष्ण परमहंससे उनकी कालीकी पत्थरकी मूर्ति नहीं बोलती थी तो कौन बोलता था ? श्रीवल्लभ-सम्प्रदायके चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवोंसे मैं किस-किस तरह बोला'—मैं अवाक् और स्तब्ध रह गया। ऐसा अनुभव क्वचित् ही किसीको होता है।

जन्माष्टमीको मैं नाथद्वारे गया। 'राजभोग'के दर्शनोंमें कानोंमें फिर वैसा ही स्वर ! केवल दो वाक्य—'तुम्हारे श्रीगोपाललालजी और मुझमें कोई अन्तर नहीं। अब हम तुम्हें तारेंगे।' कितना बड़ा आश्वासन ! शायद इससे बड़ा आश्वासन सम्भव नहीं।

कुछ दिन पश्चात् फिर एक विलक्षण अनुभव हुआ। जबलपुरके अपने मन्दिरमें जब मैं 'राजभोग'के दर्शन कर रहा था, तब एकाएक मेरी आँखोंसे कुछ आँसू निकल पड़े और मुझे अनुभूति हुई, जैसे किसी अकथनीय कोमल वस्तुने मेरी आँखें पोंछ दीं। शायद उससे अधिक कोमल और किसी वस्तुका होना सम्भव नहीं।

अब भी जब मुझे ये अनुभव स्मरण आते हैं, तब यह अनुभूति हो जाती है कि इनका आधुनिक विज्ञानके पास कोई तर्कपूर्ण उत्तर सम्भव नहीं। ये अनुभव आधुनिक विज्ञानसे परेकी वस्तु हैं। आजकल एक अंग्रेजी शब्दका बहुत प्रचार हो गया है—'हैल्यूसीनेशन' (Hallucination), परंतु यह अनुभव मेरे मतानुसार किसी भी प्रकार इस शब्दके दायरेमें नहीं आता; न कोई स्वप्न, न कोई कल्पना ! मेरे सदृश अन्य संशयात्माओंको भी इस प्रकारके अनुभव हुए हैं, ऐसे दृष्टान्त कम नहीं हैं। इस प्रकारके अद्भुत अनुभव मात्र भगवदनुग्रहसे ही सम्भव होते हैं।

श्रीरामभक्त श्रीरामदास

(लेखक—डॉ० श्री के० रामनाथन्, एम्० ए०, पी-एच्०डी०)

आन्ध्र-प्रदेशके गाँव-गाँव और शहर-शहरमें श्रीरामजीके मन्दिर दिखायी पड़ते हैं। श्रीरामनवमीके शुभ अवसरपर ऐसा कोई श्रीराम-मन्दिर मिलना कठिन है, जहाँ उसी प्रान्तके प्रसिद्ध भक्त कवि श्रीरामदासजीके कीर्तनोंका गायन या भजन न होता हो। इसी पुण्य पर्वके अवसरपर देशके सुदूर प्रान्तोंसे भक्त लोग भजन करते हुए प्रसिद्ध पुण्यक्षेत्र 'भद्राचलम्' आते हैं और भक्त श्रीरामदासजीके निर्मित कराये हुए श्रीराम-मन्दिरमें पधारकर भगवान् श्रीरामजीका दर्शन और सेवा करके कृतकृत्य हो जाते हैं। नामदेव, कबीरदास, सूरदास, मीराँबाई, तुलसीदास, चैतन्यदेव, पुरन्दरदास, अन्नमाचारी, त्यागराजस्वामी, आण्डाल आदि इने-गिने भक्तोंमें श्रीरामदासजीकी गणना की जाती है। भक्त श्रीरामदासजीका असली नाम 'कंचले गोपन्न' था। उनका जीवनकाल ई० १६८० तक माना जाता है।

'रामदासचरित्रमु' नामक ग्रन्थसे श्रीरामदासजीके जीवनके सम्बन्धमें पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। श्रीरामदासजी जन्मतः रामभक्त थे। जब वे रामायण पढ़ते थे, तब उन्हें इस बातका दुःख होता था कि श्रीरामजीके अवतारके समयमें उनका जन्म न होकर अब क्यों हुआ? उक्त ग्रन्थमें यह स्पष्ट उल्लेख है कि संत कबीरदासजी दक्षिणकी यात्रा करते-करते श्रीरामदासजीके गाँवमें पहुँच गये और उन्हें राममन्त्र देकर रामभक्तिमें दीक्षित किया। ऐतिहासिक दृष्टिसे उस कालमें कबीरदासजीका दक्षिणमें जाना सम्भव नहीं दीखता। इसीलिये इस कबीरको उत्तर भारतके निर्गुण सम्प्रदायके प्रवक्ता कबीरदासजीसे भिन्न माना जा सकता है। जो भी हो, जब श्रीरामदासजीको गुरुमुखसे राममन्त्र प्राप्त हुआ, तब वे आनन्द-विभोर होकर—'तारकमंत्रमु कोरिनि दारिकुनु धन्युडनयितिनि कोरन्ना' कहते हुए कीर्तन करने लगे। बचपनसे ही हरिदासोंकी सेवामें अपना समस्त ऐश्वर्य लुटानेमें उन्हें बहुत आनन्द आता था। वे सहज, सरल जीवन व्यतीत करते थे। उस समय गोलकुंडाकी राजधानी हैदराबादमें 'तनीषा' नामक मुसल्मान राजाका शासन था। हैदराबादसे कुछ मील दूर एक पहाड़पर इस राजाका जो बहुत मजबूत किला था, वह एक खँडहरके रूपमें आज भी विद्यमान है। इसी किलेके भीतर एक अँधेरे कमरेमें १२ वर्षोंतक श्रीरामदासजी कैद रहे थे। आजकल यह किला यात्रियोंके आकर्षणका केन्द्र बना हुआ है। राजा तनीषाके दरबारमें श्रीरामदासजीके दो मामा थे। उनकी सहायतासे श्रीरामदासजी राजा तनीषाके द्वारा 'भद्राचलम्' तालुकाके तहसीलदार नियुक्त किये गये। जिस धनको करके रूपमें वसूल कर खजानेमें उन्हें जमा करवाना था, उसमेंसे छः लाख मुद्राएँ उन्होंने भद्राचलम्में श्रीरामजीके मन्दिरके निर्माणके लिये खर्च कर डालीं। यह बात जानकर राजा तनीषाने सरकारी धनको तुरंत भिजवानेकी ताकीद की। श्रीरामदासजीपर राज-द्रव्यके अपहरणका जुर्म लगाया गया और वे राजा तनीषाके किलेकी एक कोठरीमें बंद कर दिये गये। वहाँ उन्हें हर रोज कठोर-से-कठोर दण्ड दिया जाने लगा। इस दशामें भी श्रीरामदासजीका श्रीरामके प्रति विश्वास अडिग रहा। उन्होंने इस संकटसे उबारनेके लिये भगवान् श्रीरामसे प्रार्थना की। दूसरी ओर उन्होंने मुसल्मान राजाके यहाँ बंदी-अवस्थामें रहनेकी अपेक्षा विषपान करके प्राण-त्याग कर देना अधिक श्रेष्ठ समझा और उसके लिये उन्होंने तैयारी भी कर ली।

भक्तके हृदयकी व्यथा भगवान्में प्रतिफलित हुई। अपने भक्तकी रक्षाके लिये वे अधीर हो गये। भगवान् श्रीराम भैया श्रीलक्ष्मणके साथ श्रीरामदासके सेवकोंके रूपमें राजा तनीषाके अन्तःपुरमें प्रकट हुए और श्रीरामदासकी ओरसे छः लाख रुपये उन्हें देकर उनसे रसीद ले ली। फिर भगवान् श्रीराम राजा तनीषाके रूपमें प्रकट होकर वह रसीद श्रीरामदासको देकर अन्तर्धान हो गये। इस बीच श्रीलक्ष्मणजीने सर्पका वेष धारण करके विषपात्रको मिट्टीमें ढकेल दिया। राजा तनीषाकी आँखें खुल गयीं; उसने तुरंत श्रीरामदासजीको कैदसे मुक्त कराया और उन्हें सलाम करते हुए बहुत ही पश्चात्ताप प्रकट किया। अन्तमें भगवान् श्रीरामके प्रभावसे अभिभूत होकर राजा तनीषाने भद्राचलम् प्रान्त उन्हींको समर्पित कर दिया। इसके प्रमाणमें उसने एक रसीद श्रीरामदासजीको दी तथा भगवान्से प्राप्त समस्त धन भी उन्हें सौंप दिया।

कीर्तनोंके अतिरिक्त श्रीरामदासजीने 'दाशरथि' नामक

एक शतककी रचना की है । श्रीरामदासजीके लगभग १०० कीर्तन देखनेको मिलते हैं । उनके कीर्तन पाण्डित्य-प्रदर्शनसे रहित, सरल, स्पष्ट तथा लयान्वित हैं । उनमेंसे भावस्फुरण भी मार्मिक होता है । वास्तवमें श्रीरामदासजीका उद्देश्य पाण्डित्य-प्रदर्शन नहीं था । संगीत उनकी भक्ति-साधनाका केवल एक उपकरणमात्र था । उनके कीर्तन सहज भक्तिभावावेश और तन्मयताके कारण अप्रयत्नरूपसे फूट पड़े हैं; अतएव वे विशेष प्रभावशाली हैं । एक साथ समवेत स्वरमें गाये जानेपर उन गीतोंमें मिठास और भी निखर आता है । भजनगोष्ठियोंमें श्रीरामदासजीके कीर्तनोंके बाद ही शेष कीर्तनोंका स्थान है । आन्ध्रमें आनन्द और विरागका सर्वप्रथम प्रयोग करनेका गौरव उन्हींको है । पुत्र-मरण होनेपर श्रीरामदासद्वारा गाया हुआ 'कोदण्डराम' वाला कीर्तन भजनगोष्ठियोंद्वारा आनन्द और विरागमें गाया जाता है । यह कीर्तन सुनकर श्रोतागण भावविभोर हो जाते हैं । इस गीतसे श्रीरामजीका हृदय पिघल गया और उन्होंने श्रीरामदासजीके पुत्रको प्राणदान दिया । श्रीरामदासजीने संस्कृतमें भी कुछ भावपूर्ण कीर्तनोंकी रचना की है । एक कीर्तन देखिये—

भज रे श्रीरामं हे मानस भज रे रघुरामम् ।
भज रघुरामं मण्डनमीड्यं रजनिचरौघविरामं रामं भज रे ॥

हृदयको स्पन्दित करके रसका आस्वादन करानेवाला तत्त्व 'भाव' ही है । इसकी शक्तिकी कोई सीमा नहीं है । इसीपर आधारित साधना ही भक्ति है । भाव-साम्राज्यमें जाकर भक्त न जाने कितने सम्बन्धोंको अपने और भगवान्के बीच स्थापित कर लेता है । श्रीरामदासजीके लिये माँ, बाप, दाता, रक्षक—सब कुछ भगवान् श्रीराम ही हैं । अपने घटमें अगणित लोकोंका सृजन करके चराचर जीवोंकी पितासदृश रक्षा करनेवाले करुणासागर भगवान् श्रीरामजीसे वे अपनेको उनका पुत्र मानकर रक्षा करनेकी प्रार्थना करते हैं । स्पष्ट है कि उनके श्रीराम केवल दशरथसुत नहीं हैं; वे समस्त लोकोंमें व्याप्त हैं और उनमें ही समस्त लोक अधिष्ठित हैं । ऐसा कोई रूप नहीं है, जो उनका न हो । जब भक्तको यह ज्ञात होता है कि भगवान् कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके नायक और अनन्त महिमामय हैं, तब वह भगवान्के उस ऐश्वर्यके सामने अपनेको सब प्रकारसे हीनातिहीन अनुभव करने लगता है, और कैङ्कर्य भावसे अपनेको उनपर न्योछावर करने लगता है । श्रीरामदासजीने भी समस्त पापियोंमें अपनेको सबसे बड़ा स्वीकार करके भगवान्से यह प्रार्थना की—'हे नाथ ! इस पापीकी रक्षा करनेमें ही आपका बड़प्पन है ।' भगवान्से उनका निवेदन है कि 'भवसागरको पार करनेकी मुझमें शक्ति कहाँ ? आश्रितजनपोषक, भक्तवरद, करुणालय भगवान् ! अब मुझे आपकी कृपाका ही एकमात्र भरोसा है । हे राम ! मेरे क्रूर कर्मोंकी गिनती आप मत कीजिये'—

एतीरुगानुदयचूचुदवो मिनवंतेत्तम रामा ।
नातरमा भवसागरमीदनु नलिनदलेक्षण रामा ॥
क्रूर कर्ममुलु नेरक चेसिति नेरमुलुचकु रामा ।
दारिद्र्यमु परिहारमुचेयवु, देवशिखामणि रामा ॥

वे श्रीरामसे प्रार्थना करते हैं—'बहुदुःखरूपी उद्दण्ड तरंगोंके झोंकोंसे युक्त असंख्य जन्म-कर्मरूपी दुस्तर सागरमें तैरनेकी शक्ति मुझमें कहाँ ? आपकी चरण-भक्ति-रूपी नावका ही मुझे एकमात्र भरोसा है ।'—

अगणित जन्मकर्मदुरितांबुधिलो बहुदुःख वीचिकल् ।
दुगवडि नीदलेक जगती धवनीपदभक्ति नावचे ॥
दगिलि तरिपंगोरिति पदंपडि नाडुभयंबु दीपवे ।
तगदनि चित्तमंदिडक दाशरथी करुणापयोनिधी ॥

श्रीरामदासजीको भगवान्का 'पतितपावन' रूप सबसे श्रेष्ठ लगता है । इसीलिये वे कहते हैं—"आपकी प्रबल मायासे दशरथ, सुग्रीव, पाण्डव आदिने क्रमशः पुत्र, मित्र एवं सखाकी दृष्टिसे आपके प्रति व्यवहार किया । आपको 'पतितपावन' समझनेकी बुद्धि उनमें कहाँ ?" भक्तिकी साधना भक्तको नितान्त उल्लास और आनन्द प्रदान करनेवाली है । इसीलिये भक्तोंने मोक्षकी भी परवाह न करके भक्तिकी याचना भगवान्से की । भक्ति करनेमें जो आनन्द है, वह प्रत्यक्ष है; इसीलिये श्रीरामदासजी श्रीरामकी भक्तिके इच्छुक हैं और उसके सामने मुक्तिकी भी उन्हें कोई परवाह नहीं है ।

वैष्णव-धर्मके 'डेंकलै'—सम्प्रदायमें 'मार्जारन्याय'-की मान्यता है । बिल्ली अपने बच्चेको स्वयं कष्ट सहनकर एक स्थानसे दूसरे स्थानतक ले जाती है । मार्जारशिशुको कहीं भी जानेके लिये तनिक भी कष्ट नहीं उठाना पड़ता । इसी प्रकार जब भक्त त्रिकरणशुद्धिसे भगवान्की अनन्य शरणमें जाता है, तब उसकी हर प्रकारसे रक्षा करनेका

भार भगवान्पर ही होता है। श्रीरामदासजी भी इसी प्रकार केवल भगवान्पर ही भरोसा रखते हैं। वे कहते हैं—'भरत-जैसी पादुका-पूजा, केवट-जैसा नौका लेना, श्रीसीताजी-जैसी मधुरभक्ति, गजेन्द्रके समान आर्तपुकार, भक्तोंके सदृश भजन—इनमेंसे एक भी पद्धतिको मैं अपना नहीं सकता। फिर भी आपको मेरी रक्षा करनी ही पड़ेगी।'

भगवद्भक्तिके लिये लौकिक सुखों और वस्तुओंके प्रति अनासक्ति और विरागका होना नितान्त आवश्यक है। विरागका तात्पर्य समाजसे अलग होना नहीं है, बल्कि अनासक्तिके साथ जीवन व्यतीत करके सुख और दुःखके द्वन्द्वसे परे रहना है। श्रीरामदासजी बार-बार अपने मनको मनुष्य-जीवनकी निस्सारताका स्मरण दिलाते हैं। नारी-गर्भ-रूपी नरकमें प्रत्येक मनुष्यको रहना पड़ता है। अन्तमें घृणित योनिद्वारसे उसे जन्म लेना पड़ता है। बालकपनमें दुर्गन्धके बीच उसे रहना पड़ता है। बाल्यावस्था खेल-कूदमें, यौवनावस्था काम-वासनाओंके अन्वेषणमें, प्रौढ़ावस्था पत्नी-पुत्रकी चिन्तामें, वृद्धावस्था रोग और कमजोरीमें व्यतीत हो जाती है; अन्तमें मृत्यु आ घेरती है। जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेका एकमात्र उपाय श्रीराम-भक्ति ही है। वे पत्नी-पुत्र, सम्पत्ति और शरीरमें प्रगाढ़ आसक्ति रखनेवाले लोगोंको चेतावनी देते हैं कि 'शरीरको छोड़कर जीवके एकाकी प्रस्थान करते समय इनमें-से कोई भी उसका साथ नहीं देगा'—

'पोय्येटप्पुडुवटराडुगा पुच्चिन वक्कना।'

लौकिक जीवन और शरीरकी निस्सारता एवं निरर्थकताको ध्यानमें रखकर सत्कर्मोंमें प्रवृत्त होनेका श्रीरामदासजीने बार-बार संदेश दिया। उनका कहना है—'साधुजन-पीड़क मनुष्यको ब्रह्महत्याका पाप लगता है। दान-धर्म न करना, परधनका अपहरण, गरीब और अनाथ लोगोंका शोषण, मित्र-द्रोह, परनारीरत होना आदि पापोंका एकमात्र परिणाम भयंकर नरकवास है।'

चरित्र-निर्माणमें संगतिका बहुत बड़ा हाथ है। इसी-लिये श्रीरामदासजी केवल श्रीरामके दासोंको सार-स्वरूप समझकर उनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और कामके दासोंसे वे सतत बहुत ही दूर रहते हैं—

'रामदासुलुमाकु सारां सारां, कामदासुलुमाकु दूरां दूरां।'

भक्ति-साधनामें भगवान्के नाम-जपका बड़ा ही महत्त्व है। इस नामका आश्रय लेकर भक्त भगवान्से यह भी कह सकता है कि 'आप मेरे पास आवें चाहे न आवें, इसकी हमें कोई परवाह नहीं है; हमारे पास आपका नाम है, यह हमारे लिये पर्याप्त है।' श्रीप्रह्लाद आदि अगणित भक्तोंको तारनेवाले आपके नामकी मधुरिमा अवर्णनीय है। यह समस्त मधुर फलोंसे भी मधुर तथा नवरसों और नवनीतसे भी स्वादिष्ट है'—

श्रीरामनी नाम मेमि रुचिरा ओ रामनी नाम मेमि रुचिरा।

वे आगे कहते हैं—'इस असार संसार-सागरको पार करानेवाला एकमात्र साधन नाम ही है। समस्त रोगोंको तत्क्षण दूर करनेवाली एक अमूल्य ओषधि रामदासके पास है। उसकी महिमाकी घोषणा करके जन-जनसे उसे खरीदनेका मैं अनुरोध कर रहा हूँ। काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य आदि दोषोंको और काजल-सरीखे काले पर्वत-समूहरूप कुत्सित प्रारब्ध-कर्मोंको भगवान्का नाम दूर हटानेवाला है। इतना ही नहीं, यह मुक्तिको भी बड़ी सरलतासे दिलानेवाला है। यह रामनाम-स्मरण ही भवरोगकी अमोघ दवा है'—

काटुक कांडुलवंटि कर्मसुलुडवाबुमदु।
रामजोगिमंदुकानुरे पामरुल[illegible], रामजोगि मंदुकानुरे।

उपनिषदोंमें ब्रह्मको 'शब्दब्रह्म' या 'नादब्रह्म'की उपाधि दी गयी है। इस 'नादब्रह्म'को प्राप्त करनेके लिये नादकी साधना करना परम आवश्यक है। योगमें अनहद नादकी साधनासे साधक कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करके ब्रह्मके साथ एकाकार हो जाता है। भक्तिमार्गमें कीर्तनका यही स्थान समझना चाहिये। इसीलिये श्रीरामदासजी कहते हैं—'तप, दान, यज्ञ आदि कीर्तनके सामने कुछ नहीं है।' श्रीरामदासजीने धर्मकी बाहरी चहल-पहलकी अपेक्षा उसके भीतरी तत्त्वपर ध्यान देनेका लोगोंको संदेश दिया है। उनके मतानुसार पुण्यक्षेत्र-यात्रा और पुण्यनदी तथा पुण्य-तीर्थोंमें स्नानकी अपेक्षा भगवत्कथा-श्रवण कई गुना श्रेष्ठ है। व्यक्ति यदि परधन-शोषणसे दूर रहे तो उसे मन्दिर-निर्माणकी कोई आवश्यकता नहीं है। दीन, अनाथ और भक्तोंकी सेवा करनेवालोंको एकान्तमें बैठकर हरिपूजा करनेकी उतनी आवश्यकता नहीं है। स्थिरतासे सतत हरिस्मरण करनेवालोंके लिये तप, यज्ञ तथा व्रत करना आवश्यक नहीं है। यज्ञ-यागकी अपेक्षा भूखे अतिथियोंको

अन्न देना श्रेष्ठ है।' उनकी दृष्टिमें यह समस्त जगत् राममय है और प्रत्येक व्यक्तिके अन्तःकरणमें आत्मा-रूपमें श्रीरामका निवास है; इसलिये वे मानव-सेवापर अधिक बल देते हैं।

श्रीरामदासजीको उन चरणोंका ही एकमात्र भरोसा है, जिन्होंने अरण्यमें प्रस्तरको स्त्री बनाया—

'वनमुनरातिनि वनितगजेसिन शरणमु शरणमु नी
दिव्य चरणाम्बुजंनम्मिति।'

श्रीरामदासजीको श्रीरामजीसे किसी प्रकारकी सम्पत्ति या आभूषण पानेकी इच्छा नहीं है। वे कहते हैं—'नवरत्नखचित हेमकिरीट या अन्य किसी वस्तुको, हे भगवान्! मैंने आपसे नहीं माँगा। बस, मेरी एकमात्र अभिलाषा है कि मैं यहाँ आपको पा सकूँ और आपकी सेवा कर सकूँ'—

प्रेम तो नवरत्न खचितंबुल दापिन हेमकिरीटं।
वडिगितिना-सीतारामस्वामि ने जेढ़िन ने रमेयो॥

भगवान्के अखण्ड मौनको देखकर वे पूछने लगते हैं—'आप एक शब्द भी मुझसे नहीं बोलते हैं, मानो आपका प्रत्येक शब्द सुवर्णका टुकड़ा हो'—

पलुकें वंगारमायुना कोदंडपाणि पलुकें वंगारमायुना।
पलुकें वंगारमायु पिलिचिन पलुकवेमि॥

बेचारे श्रीरामदासजीने मन्दिरके निर्माणमें और श्रीराम, सीता, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्नके गहनोंके लिये छः लाख रुपये खर्च किये। परिणाम यह हुआ, उनके पावोंमें बेड़ियाँ डाली गयीं। तिसपर भी श्रीरामजी बोलतेतक नहीं। श्रीरामदासका असहिष्णु हृदय एकदम चीख उठता है—

'श्रीरामजी! आप तो खूब मजेमें विहार कर रहे हैं। जरा बतलाइये तो सही कि इस सारे धनको आपके पिता दशरथजीने भेजा है या ससुर जनकजीने?'

नीवु कुलकुचु तिरिगुदगवुरखुलाम्मनि।
रामचन्द्रा मीतांडि दशरथमहाराजू पुट्टुना रामचन्द्रा।
लेकमी ममजनकमहाराजुपपुना रामचन्द्रा।

किंतु यह असहिष्णुता क्षणभरमें समाप्त होती है और वे तुरंत पश्चात्ताप करने लगते हैं—'श्रीरामजी! मुझसे निन्दा सुनकर आप दुःखित मत होइये। राजसेवकोंद्वारा पीटे जानेपर तंग आकर ही मैंने आपकी निन्दा की है।' कभी-कभी वे प्रेमावेशमें भगवान्को धमकी भी देने लगते हैं—'हे श्रीरामजी! बिना मेरी रक्षा किये आपको मैं एक कदम भी आगे बढ़ने नहीं दूँगा। मेरे पंजेसे आपको कोई नहीं छुड़ा सकता।'—

'गरिमतोंड भासीतनुजूचि काचिति निंदका।'

एक अन्य अवसरपर वे यहाँतक कह देते हैं—'आप परमद्रोही हैं। मूर्ख प्रह्लादने आपको पतित-पावन और शिवजीने आदिब्रह्म कैसे माना? आपके हाथमें लक्ष्मी कैसे आयी?' जलोद्भव बुद्बुदके समान श्रीरामदासका नशा एक ही क्षणमें विलुप्त हो जाता है और वे भगवान्के पैरोंपर पड़कर गिड़गिड़ाते हुए कहते हैं—'भगवन्! मेरी बातें सच्ची नहीं हैं। इनको आप बालकोंकी प्रेमसिक्त बातें समझें।'—

'मुद्दमाटलुगानि मूर्खावादमुगदु मुरहरनलुगावु रामा।'

श्रीरामदासजीका यह स्वर रामके प्रति उनकी घनिष्ठ संनिकटताका परिचायक है। भगवान्के ऐश्वर्यरूपकी उपासना-की यह चरम परिणति है। इस प्रकारकी प्रगल्भोक्तियाँ प्रेमावेशके कारण ही सम्भव होती हैं। जब उन्हें कोई चारा नहीं रह जाता है, तब वे माँ सीतासे भी श्रीरामजीकी शिकायत करनेमें नहीं चूकते—'श्रीरामजीको मैंने दयासागर, भक्तवत्सल समझा, परंतु मुझे अब पता चला, वे बड़े कठोर हैं।' अन्तमें वे सीताजीसे प्रार्थना करते हैं कि 'आप श्रीरामजीसे मेरी सिफारिश कीजिये।'

कभी-कभी श्रीरामदासजी एकाग्र होकर मानसिक पूजामें मस्त हो जाते हैं—'हे इन्द्रियो! तुम शोर मचाना बंद कर दो। इस अमूल्य समयमें सकल ब्रह्माण्डनायक श्रीरामको मैंने भक्तिभावसे अपने हृदय-कमलमें बसाया है और मैं उनकी प्रार्थनामें खोया हुआ हूँ।' कुछ पदोंमें उन्होंने श्रीरामजीके साक्षात्कारका भी स्पष्ट संकेत दिया है—

'दर्शनमायेनु　　श्रीरामुलवारिदर्शनमायेनु।'

इस प्रकार हम देखते हैं श्रीरामदासजी पूर्णरूपसे भक्त हैं और संगीत उनके भक्तिमार्गका एकमात्र साधन है। उनकी भाषा-शैली और भावकल्पना अत्यन्त सरल तथा सरस है। उनका समस्त जीवन एक बड़े आदर्श भक्तका जीवन है। भक्त, गायक और कीर्तनकारके रूपमें जन-जनके हृदयमें उनका स्थान अमर हो गया है। कृत्रिमता और पाण्डित्य-प्रदर्शनसे वे कोसों दूर हैं। इस महान् भक्त, कवि, गायकपर सम्पूर्ण मानवता गर्व कर सकती है।

स्वप्नविषयक विचार

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

स्वप्न मनुष्यकी दबी हुई भावनाओं, वासनाओं या संकल्पोंका एक अस्त-व्यस्त प्रतिबिम्ब है, जिसमें कोई क्रम-बद्धता नहीं परिलक्षित होती। कई स्वप्न अतीतकी घटनाओंके चिन्तन या स्मरणसे प्रतिफलित होते हैं और कई जप, व्रत एवं आराधना आदिके भावी फलकी सूचना या संकेत देनेवाले होते हैं; अतः स्वप्नका मनुष्यके जीवनके साथ कुछ-न-कुछ सम्बन्ध है, इसे प्रायः सभी विचारक स्वीकार करते हैं। कभी-कभी स्वप्नकी बात जाग्रत्-कालमें अक्षरशः सत्य होती देखी जाती है। कई विख्यात पाश्चात्य दार्शनिकोंको स्वप्नमें ही अपने सिद्धान्तोंका पता लगा और कई गणितज्ञों तथा शिल्पियोंकी कठिन गुत्थियाँ स्वप्नमें ही सुलझीं। पर स्वप्न क्या है, यह आज भी एक रहस्य बना हुआ है। संसारमें स्वप्नकी मीमांसाको लेकर विशाल साहित्य उपलब्ध होता है। स्वप्नोंके अनुसार अभ्युदय और पराभवकी घटनाएँ पहले भी सुनी गयी हैं तथा आज भी देखी जाती हैं। भारतीय दार्शनिकोंने—विशेषतः वेदान्तियोंने स्वप्नको क्षणिक मानकर संसारकी भी इसीसे तुलना की तथा उसे क्षणिक, असत्य एवं कल्पित बतलाया है। तथापि व्यावहारिक जीवनमें वे स्वप्नका अवश्यम्भावी परिणाम सदा स्वीकार करते रहे हैं। अधिक क्या, स्वयं उपनिषदोंने भी स्वप्नका अत्यधिक महत्त्व माना है। छान्दोग्य उपनिषद्का कहना है कि 'यदि कोई काम्य कर्मोंके अनुष्ठान आदिमें प्रवृत्त व्यक्ति स्वप्नमें किसी स्त्रीका दर्शन करे तो उसे यह समझना चाहिये कि उसका बहुत बड़ा श्रेय होनेवाला है; उसके कार्यकी सिद्धि अवश्य होगी'—

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने॥
(५।२।८)

इन्द्रियाणामुपरमे मनोऽनुपरतं यदि।
सेवते विषयानेव तद्विद्यात् स्वप्नदर्शनम्॥
(मूलाविद्यानिरास)

इसी प्रकार ऐतरेय आरण्यककी श्रुति बतलाती है कि यदि स्वप्नमें काले दाँतवाले काले पुरुषको देखे तो वह मृत्यु-का सूचक होता है—

पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति॥
(३।२।४।१०)

वेदान्तदर्शनकारने भी 'संध्ये सृष्टिराह हि' (३।२।१) तथा 'निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च' (३।२।२)—इन दो सूत्रोंद्वारा स्वप्नकी सत्यताके प्रतिपादक पूर्वपक्षकी स्थापना करके पुनः उसका खण्डन करते हुए 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' (३।२।३)—इस सूत्रद्वारा स्वप्नकी मायामयता सिद्ध की है।

जिन स्वप्नोंसे योगी तथा साधकोंका अभ्युदय होता है, उन्हींसे अन्य मनुष्योंका भी अभ्युदय होता है; अतः सभी सम्प्रदायों, आयुर्वेद, ज्योतिष, योग, इतिहास, पुराण, धर्म-शास्त्र, तन्त्र तथा राजसभामें स्वप्नाध्यायको बड़ा सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है। आस्तिक-नास्तिक सभी स्वप्नसे प्रभावित होते हैं।

प्राचीन इतिहासमें स्वप्नके प्रसङ्ग

आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण भारतका प्राचीनतम इतिहास समझा जाता है। उसमें जगह-जगह स्वप्नोंकी चर्चा है। राजा दशरथका अयोध्यामें देहान्त होता है, तब भरत अपने ननिहालमें दुःस्वप्न देखते हैं और उसकी शान्ति करते हैं। (देखिये अयोध्या०, सर्ग ६९, श्लोक २ से २२ तक) तुलसीदासजीने भी—

देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना॥
बिप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥
माँगहिं हृदयँ महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥
(मानस २।१५६।३-४)

—आदि पद्योंमें दुःस्वप्नकी भयानकताका वर्णन किया है। भरत जब चित्रकूट पहुँचते हैं, तब श्रीसीताजीको बड़ा अनिष्ट-सूचक स्वप्न होता है और जब वे श्रीरामको सुनाती हैं, तब वे भी लक्ष्मणसे कहते हैं कि 'लक्ष्मण! यह सपना अच्छा नहीं है। इसके कारण कुछ दुःखद समाचार सुननेको मिलेगा'—

लखन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाह सुनाइहि कोई॥
(अयो० २२५।४)

सुन्दरकाण्डमें उल्लिखित त्रिजटाका स्वप्न तो बहुत प्रसिद्ध है। अध्यात्मरामायण, आनन्दरामायण आदि अन्य

सभी रामायणोंमें तथा अन्यान्य रामचरित-सम्बन्धी नाटकों एवं काव्योंमें भी इसका वर्णन मिलता है। गीतावली एवं कवितावली आदिमें भी गोस्वामी तुलसीदासजीने इसका चित्रण किया है। सूरदासजीने भी सूरसागरमें 'सुनु सीता सपने की बात।' आदिके रूपमें एक बहुत बड़ा भजन तथा दूसरे भी कई भजन इस त्रिजटा-स्वप्नपर ही लिख डाले हैं। कई रामायणोंमें रावणद्वारा श्रीहनुमान्के लङ्का जाने तथा अशोकवाटिका उजाड़ने एवं लङ्कादाह करने आदिके विषयमें स्वप्न देखनेकी बात आयी है। (द्रष्टव्य—अध्यात्मरामायण, सुन्दरकाण्ड, सर्ग २, श्लोक १७-१८; आनन्दरामायण, सारकाण्ड, सर्ग १, श्लोक ६९)

इसी प्रकार श्रीकृष्णचरित्र-सम्बन्धी कथानकोंमें भी स्वप्नका बड़ा रोचक वर्णन है। बाणासुरकी पुत्री उषा स्वप्नमें अनिरुद्धको देखती है। उसकी सखी चित्रलेखा उन दोनोंका संयोग कराती है और अन्तमें उन दोनोंका विवाह भी सम्पन्न हो जाता है। (देखिये—हरिवंश०, विष्णुपर्व, अध्याय ११८; भागवत १० । ६२ तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण, कृष्णजन्मखण्ड, उत्तरार्द्ध० अ० ११४ आदि) श्रीकृष्ण जब देवकीके गर्भमें प्रवेश करते हैं, तब कंस देवताओंद्वारा वहाँ जाकर भगवान्की स्तुति करनेका स्वप्न देखता है। महाभारतमें भी कई स्थलोंपर स्वप्नका वर्णन आता है और शान्तिपर्वमें सांख्ययोगके वर्णनके प्रसंगमें साधकको सलाह दी गयी है कि 'वह ऐसी चेष्टा करे कि उसे स्वप्न बिल्कुल न दीखे। वह इतना कम सोये कि स्वप्न देखनेकी नौबत ही न आये।' यथा—

> कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम्।
> परित्यज्य निषेवेत यतवाग् योगसाधनान्॥
> सत्त्वसंसेवनाद्धीरो निद्रां च च्छेत्तुमर्हति॥
> (महा०, शान्ति० २७४ । १५, ५)

जयद्रथ-वधकी प्रतिज्ञाके समय जब अर्जुन उसके एक ही दिनमें वध न करनेपर अग्निप्रवेशकी प्रतिज्ञा करते हैं, तब भगवान् श्रीकृष्ण उनकी स्वप्नावस्थामें उन्हें हिमालयपर ले जाते हैं और वहाँ भगवान् शंकरकी स्तुति करके वे अर्जुनको पाशुपतास्त्रकी प्राप्ति कराते हैं। जब प्रातःकाल सभामें इस आश्चर्ययुक्त स्पप्न-वृत्तान्तको अर्जुन युधिष्ठिरसे बतलाते हैं तो उसे सुनकर सभी लोग विस्मित रह जाते हैं और 'साधु-साधु' कहकर अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट करते हैं (द्रष्टव्य—महाभारत, द्रोणपर्व, प्रतिज्ञापर्व, अध्याय ७७ से ८४)। इसी प्रकार 'बृहत्कथामञ्जरी, कथासरित्सागर, राजतरङ्गिणी आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों तथा बौद्ध जातकोंमें भी स्वप्नोंके ही आधारपर बहुत-सी घटनाओंके घटनेकी बात आयी है।

स्वप्नके शुभाशुभ फल और दुःस्वप्नकी शान्ति

योग, आयुर्वेद, ज्यौतिष तथा इतिहास-पुराणादिमें स्वप्नोंके विस्तृत फलादेश प्राप्त होते हैं। इसके लिये स्वप्न-प्रकाशिका', 'स्वप्नाध्याय' आदि कई स्वतन्त्र पुस्तकें भी प्राप्त हैं। अंग्रेजीमें भी मार्टिनी (Mautini)की ह्वाट योर ड्रीम्स मेंट' (What your dreams meant) नामक स्वप्नफलादेश-सम्बन्धी स्वतन्त्र पुस्तक है, जिसमें अनुक्रमसे शब्दोंका संकलन तथा तदनुसार स्वप्नोंका फलादेश अङ्कित है। भारतीय मतमें श्रीकृष्णप्रोक्त 'स्वप्नाध्याय' सर्वोत्तम है। कहते हैं, एक बार नन्दजीने श्रीकृष्णसे स्वप्नोंका रहस्य जाननेकी इच्छा व्यक्त की। इसपर श्रीकृष्णने कहा कि 'वेदोंमें सामवेद प्रशस्त है। उसकी काण्व-शाखामें स्वप्नाध्यायका जैसा वर्णन है, वह मैं आपको बता रहा हूँ। रात्रिके प्रथम प्रहरमें देखा गया स्वप्न एक वर्षके अन्तमें, आधी रातका स्वप्न आठ महीनेमें, पिछले पहरका स्वप्न एक मासतक, अरुणोदय-का स्वप्न दस दिनके भीतर तथा प्रातःकालिक स्वप्न उसी दिन अपना फल प्रकट करता है। चिन्तातुर प्राणीका स्वप्न निष्फल होता है। सपनेमें गाय, उज्ज्वल भवन, अश्वारोहण और गजारोहण शुभ है। वीणा बजाकर गीत गाना शस्यसे भरी भूमिकी प्राप्तिका सूचक है। अमृत पान करना, शुभ बातोंको सुनना, राजा, सुवर्ण, कमल, छत्र एवं रथ आदिका दर्शन धन-धान्यकी वृद्धि करानेवाला है। दही, घी, मधु, खीर आदिको कमलके पत्रमें रखकर स्वयं या दूसरेको खाते देखनेसे मनुष्य अत्यन्त श्रेष्ठ फलको प्राप्त करता है अथवा वह राजा होता है। भस्म, हड्डी तथा कपासको छोड़कर सभी उजली वस्तुओंका स्वप्न शुभ है। गाय, हाथी, अश्व, ब्राह्मण और देवताको छोड़कर शेष सभी काली वस्तुएँ अशुभ हैं'—

> सर्वाणि शुक्लानि प्रशंसितानि भस्मास्थिकार्पासविवर्जितानि।
> सर्वाणि कृष्णान्यतिनिन्दितानि गोहस्तिवाजिद्विजदेववर्ज्यम्॥
> (ब्रह्मवै०, श्रीकृष्ण०, उत्तर० ७७ । ३७)

स्वप्नमें तेल लगाना, दक्षिण दिशाकी ओर जाना, गधेपर चढ़ना, लोहा आदि काले पदार्थ एवं स्त्रियोंको देखना, कौआ, भालू, भैंस, सुअर आदि जानवरोंको क्रुद्ध होकर खदेड़ते देखना अथवा कोई भयप्रद स्वप्न देखना चिन्ता, रोग तथा अर्थ-हानिका सूचक होता है।

विष्णुसहस्रनाम, गजेन्द्रमोक्ष, दुर्गासप्तशती आदिका पाठ दुःस्वप्ननाशक होता है।

'ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं दुर्गतिनाशिन्यै महामायायै स्वाहा ।'

—इस मन्त्रको १० बार जपनेसे भी दुःस्वप्न-दोषका नाश हो जाता है। (ब्रह्मवै०, श्रीकृष्ण०, उत्तर० ८२ । ५२)। इसी प्रकार मत्स्यपुराणके २४२वें अध्याय, अग्निपुराणके २२९वें अध्याय, कालिकापुराणके ८७वें अध्याय तथा वाग्भट शरीरस्थानके ६ठे अध्यायमें भी स्वप्नफलका विस्तृत विवेचन है। 'शिवपुराण' तथा 'मार्कण्डेयपुराण'के योगाध्यायमें भी इसकी कुछ सामग्री प्राप्त होती है। विस्तार-भयसे उन सबका यहाँ उल्लेख नहीं किया जाता है।

स्वप्नपर पाश्चात्य विद्वानोंद्वारा लिखित विशाल साहित्य भी उपलब्ध है। फ्रैंक शेफील्ड (Frank Sheffield) की 'मिस्टिक्स् एंड क्यूरियासिटीज् ऑव ड्रीम्स्' (Mystics and Curiositiesof Dreams), डॉ० कारपेंटर (Dr. Carpenter)का 'मेंटल साइकोलॉजी' (Mental Psychology), ऑस्टीन गार्टर (Austin Garter) की 'हिस्ट्री ऑव दि सोमनाम्बूलिज्म' (History of the Somnambulism), अचिन्सन् (Hutchinson) की 'ड्रीम्स् एंड देयर मिनिंग्स्' (Dreams and their meanings) तथा 'ग्रीनवुड (Greenwood) की 'इमेजिनेशन इन ड्रीम्स्' (Imagination in dreams) आदि पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं। 'होमर' (Homer) के 'इलियड' (Iliad) काव्यमें बतलाया गया है कि 'स्वप्न देव-देवियोंद्वारा निर्मित एवं प्रदर्शित होते हैं।' प्राचीन यहूदी स्वप्नको तीन प्रकारका मानते रहे हैं। उनके मतसे कुछ स्वप्न तो पारलौकिक प्राणियों—देवता-पितरोंद्वारा प्रदर्शित होते हैं, कुछ स्वप्न मानसिक चिन्तनसे तथा कुछ स्वप्न दिनमें की गयी क्रियाओंकी प्रतिक्रिया-रूप ही होते हैं। मुस्लिम देशोंमें स्वप्नका कारण कुछ और ही माना जाता है। ऋतु, मास, तिथि, दिन तथा समय-विशेषके कारण ही वे विभिन्न ढंगके होते समझे जाते थे। 'सिफति सिरोज' नामक ग्रन्थमें ऐसे स्वप्नोंकी तालिका दी गयी है, जिसमें बतलाया गया है कि 'अमुक मास, पक्ष, तिथि, वार आदिके अनुसार अमुक राशिके अमुक स्वप्न ही सम्भव है। रोम तथा यूनानवाले स्वप्नको विशेषतः अलौकिक प्राणियोंका संकेत मानते रहे हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) स्वप्नको ईश्वरीय सम्बन्ध मानता था। पीछे तो यह क्रिश्चियन चर्चोंका एक मुख्य धर्म बन गया। काण्ट (Cantt) अग्नि, जल आदि विशेष तत्त्वों, पौधों तथा पदार्थोंके नियमित स्वप्नको विशिष्ट प्रकृतिका निदर्शन मानता था। हिपोक्राटिस (Hypocratese)का मत था कि कुछ स्वप्न भले ही देवी-देवताओंके संकेतस्वरूप हों, तथापि अधिकांश स्वप्न मनुष्यकी क्रिया, बुद्धि एवं मस्तिष्कसे ही सम्बद्ध रहते हैं। देकार्ते (Descartes)का मत था कि मनुष्यका स्वप्न निद्रा-दशाके मननका परिणाम है; क्योंकि शरीरके सो जानेपर भी मन जाग्रत् रहता है और उसीके अनुसार विभिन्न स्वप्न होते हैं। पर लॉक (Locke) ने इसका खण्डन किया है। उसने कहा कि 'यदि ऐसा होता तो फिर सुषुप्ति नहीं होती। पर कभी-कभी हम इस प्रकार सो जाते हैं कि किसी प्रकारका स्वप्न नहीं दीखता। कभी हम ऐसे भी स्वप्न देख लेते हैं, जो सर्वथा अज्ञात, अदृष्ट तथा अननुभूत होते हैं। कभी स्वप्न याद रह जाते हैं और कभी-कभी भूल भी जाते हैं, अतः स्वप्न केवल मनके मननके ही परिणाम नहीं हैं। लेबनीज (Labenese)ने इसका भी खण्डन किया और देकार्ते (Descartes)के मतका ही समर्थन किया। फ्रायड (Friad) आदि पीछेके मनोवैज्ञानिकोंने तो बाल, युवा, वृद्ध तथा अन्धों एवं पशु-पक्षियोंके स्वप्नपर भी विचार किया है और उनकी मनोवैज्ञानिकता सिद्ध की है।

उपसंहार

अपने यहाँके बौद्धोंने स्वप्नके फलको वैदिकों-जैसा ही माना है और बौद्ध जातकोंमें स्वप्नकी कथाएँ आती हैं। जैन मुनि 'जयप्रभुसूरिगुरु'के शिष्य धांधलकी आराधनासे स्वप्नमें वर पानेकी बात तो जैनियोंमें प्रसिद्ध है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वप्नका क्षेत्र बड़ा विशाल है और रहस्य अति ही गम्भीर है। इसकी समस्या इतनी जटिल है कि आजतक भी इसपर विभिन्न धर्मियोंका एक मत नहीं हो पाया। पर सभी मतोंकी समीक्षा करनेसे इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि उन सबपर भारतीयताकी छाप अवश्य है और सभीमें कुछ-न-कुछ तथ्यांश भी है। साथ ही इससे यह शिक्षा भी मिलती है कि शुभ स्वप्न देखनेके लिये शुभ कर्म तथा शुद्ध एवं शुभ भावनाका निर्माण करना चाहिये, तभी भविष्य जीवन मङ्गलमय और सुखी हो सकता है।

अहंकारका परित्याग

(लेखक—पं० श्रीगोपालचन्द्रजी वेदान्तशास्त्री)

अभिमान, दम्भ, दर्प, गर्व, घमंड आदि अहंकारवाचक शब्द हैं, किंतु अभिमान और अहंकारमें कुछ भेद है। मनुष्य अपने शरीर, रूप, बल, विद्या, यश आदिका अभिमान मनमें रख सकता है; विनयी व्यक्ति उन्हें बाहर प्रकट नहीं भी कर सकते हैं, किंतु दम्भ, गर्व, घमंड, दर्प आदि शब्दोंका प्रयोग बाहर प्रकट होनेपर ही होता है।

शरीर जड और आत्मा चेतन है। अतः चेतनको जडपर आत्माभिमान नहीं करना चाहिये। आधुनिक वैज्ञानिक जडका विश्लेषण कर अनेक जनोपयोगी आविष्कार कर रहे हैं सही; किंतु चेतनता कैसे या कहाँसे आती है, उसे वे नहीं जान पाते। जडमें गति-शक्ति नहीं है; उसमें गति देनेका काम चेतन करता है। जड गति पाकर भी विशृङ्खल काम करता है। पर्वतों तथा ऊँचे स्थानोंसे जल बहकर नीचे उतरता है; फिर नदियोंके रूपमें बहता हुआ एक किनारा तोड़ता और दूसरे किनारे बालूके ढेर लगाता जाता है। वे ढेर भी समान या सुशृङ्खल नहीं हैं, बल्कि कोई अधिक ऊँचा, कोई अल्प ऊँचा, कहीं गहरा गड्ढा, कहीं कम गहरा गड्ढा है। किंतु नदीके ऊपर एक सुन्दर लोहेका पुल जड प्रकृतिसे नहीं बन सकता। मिट्टीके भीतरसे ईंटें बन-बनकर अपने-आप कूदते हुए जलमें डूबकर एकपर-एक चढ़कर बड़े-बड़े खंभे बना डालें, लोहेकी खानमें सौ-सौ गजकी धरनें बन-बनकर कूदते हुए आकर उन खंभोंपर बिछ जायँ और पुल तैयार हो जाय, ऐसा सम्भव नहीं है। एक चेतन बुद्धिमान् इंजीनियर पहले आकर नदीका पाट नापेगा, कितने खंभे जलमें और कितने खंभे रेतमें बनाने होंगे तथा अन्य क्या-क्या सामान आवश्यक होंगे आदिका हिसाब लिखेगा और सारे सामानोंके जुट जानेपर काममें हाथ लगायेगा। इस प्रकार वह बहुतसे चेतन मिस्त्रियों और कुलियोंकी सहायतासे सुन्दर और सुशृङ्खल पुल बना लेगा, जो सैकड़ों वर्षोंमें भी नहीं टूटेगा।

क्या अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अन्धी प्रकृति या जड परमाणुओंसे अपने-आप बन गये हैं? सूर्य, नक्षत्र, निहारिका आदि ज्योतिष्मान् तथा पृथ्वी, मङ्गल, बुध, चन्द्र प्रभृति ग्रह-उपग्रह आदि जड पिण्ड अपने-आप एक नियमसे घूम रहे हैं, कोई किसीसे टकराकर चूर-चूर नहीं हो जाता; पृथ्वीपर अगणित प्राणी हैं; मङ्गल, बृहस्पति, शनि आदि ग्रहोंमें भी अनेक प्राणी होंगे; प्राणीके शरीरमें ज्ञान-शक्ति कैसे उत्पन्न हुई? जड प्रकृतिमें तो ज्ञान या बुद्धि नहीं है? हम सौ वर्षोंतक अन्न-जल खाते-पीते रहते हैं। वे चीजें पेटमें जाकर पित्तरससे मिलकर पच जाती हैं और उससे रस, रुधिर, मांस, चर्म, शिरा, अस्थि, मज्जा आदि बन जाते हैं; अनावश्यक जलीय भाग पेशाब होकर निकल जाता है; उसी प्रकार अनावश्यक स्थूल भाग मल बनकर शरीरसे निकल जाता है। इस तरहका चेतन यन्त्र आजतक वैज्ञानिक नहीं बना सके हैं। हमारे ऋतम्भरा प्रज्ञायुक्त ऋषि जान गये थे कि एक अनादि अनन्त सर्वव्यापक परमसूक्ष्म सच्चिदानन्द परमात्मा इस स्थूल सृष्टिके आरम्भ होनेके पूर्व अनादिकालसे विराजमान हैं। उनकी मायाशक्तिकी कल्पनासे यह संसार दीख पड़ रहा है।

लगभग ६० वर्ष पूर्व एक सभामें भाषण देते हुए एक वैज्ञानिकने कहा था—'सृष्टिके आदिकालमें जड परमाणुओंको गति देनेके लिये कुछ चेतन शक्तिकी आवश्यकता रही होगी, किंतु अब गति पाकर परमाणु काम करने लग गये हैं। अब उस चेतन शक्तिकी कोई आवश्यकता नहीं है।' परंतु वास्तवमें आवश्यकता अभी भी है। अफ्रीका, अमेरिका, यूरोप, आस्ट्रेलिया, एशिया आदि सभी महादेशोंमें पुत्र-कन्याएँ प्रायः समान संख्यामें ही उत्पन्न होती हैं और तभी उनमें विवाह होते रहनेसे मनुष्य-जातियाँ जीवित हैं। यदि जड-शक्ति नियामिका होती तो किसी देशमें केवल पुत्र और किसी दूसरे देशमें केवल कन्याएँ उत्पन्न होतीं। एक महादेशसे दूसरे महादेशमें आने-जानेका साधन न रहनेके कारण विवाह न हो सकनेसे कुछ वर्षोंमें ही पृथ्वीपरसे मनुष्य-जाति समाप्त हो जाती। अतः अभी भी सर्वव्यापक चेतन सत्ता विद्यमान रहकर संसारका संचालन कर रही है। इसे ही ईश्वर, भगवान्, परमात्मा आदि कहते हैं। हमारे प्राचीन ऋषि अपनी चेतन सत्ताको सर्वव्यापक महान् चेतन सत्ताके साथ मिलाकर कहा करते थे—'अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ', 'तत् त्वम् असि (तत्त्वमसि)—तुम वही ब्रह्म हो।' अभी भी हमारे भारतमें उन ऋषियोंकी संतानोंमें कुछ महात्मा ऐसे हैं, जो 'अहं ब्रह्मास्मि' का ध्यान-मनन करते रहते हैं तथा दूसरे सभी प्राणियोंको 'तत्त्वमसि' कहकर अपनेसे अभिन्न समझते हैं।

मनुष्य अपने चेतन स्वरूपको भूलकर शरीरके रूप, बल, बुद्धि, विद्या, धन, यश आदिका अहंकार करते हैं। रूप तो कोई चीज ही नहीं है। सुन्दरता दृष्टिका भ्रममात्र है। वस्तुकी छाया चक्षुओंपर आ पड़नेसे रूपका ज्ञान होता है। छाया पड़नेके लिये प्रकाशकी सहायता अपेक्षित है। प्रकाशमें सात रंग हैं। सूर्य मानो अपनी सात रंगोंकी रश्मियोंके घोड़ोंपर सवार होकर दौड़ते रहते हैं। इसी कारण सूर्यको 'सप्ताश्ववाहन' कहा गया है—

लोकसाक्षी त्रिलोकेशः कर्ता हर्ता तमिस्रहा।
तपनः तापनश्चैव शुचिः सप्ताश्ववाहनः॥
(साम्बपुराण, सूर्यस्तोत्र)

सात रंग ये हैं—बैंगनी, आसमानी, नीला, हरा, पीला, नारंगी और लाल। प्रकाशके साथ-साथ वस्तुओंपर सातों रंग गिरते हैं। वस्तुओंमें ऐसी शक्ति है कि वे उन सातों रंगोंमेंसे कुछको अपनेमें मिला लेती हैं और कुछको छोड़ देती हैं। जिस रंगको वह वस्तु छोड़ती है, चक्षुओंपर उसी रंगकी छाया पड़ती है। फलस्वरूप वह उसी रंगकी प्रतीत होती है। यदि कोई वस्तु प्रकाशके सातों रंगोंको सोख ले तो वह काली प्रतीत होगी। यदि कोई वस्तु एक भी रंगको न सोख सके तो वह श्वेत प्रतीत होगी। बहुत तेज गर्मीके कारण मनुष्यका रंग काला हो जाता है। मेरुप्रदेशके बर्फीले स्थानमें सूर्यकी रश्मियाँ बहुत ही कम पहुँचती हैं, इस कारण वहाँके मनुष्य श्वेत प्रतीत होते हैं। जैसे लैपलैंड-निवासी। अत्यधिक सूर्यरश्मि प्राप्त होनेके कारण हब्शी उसके सातों रंगोंको पचा लेते हैं, किसी रंगको नहीं छोड़ते, इस कारण वे काले प्रतीत होते हैं। और अत्यन्त अल्प सूर्यरश्मि प्राप्त होनेके कारण लैपलैंड-निवासी उसके एक भी रंगको पचा नहीं सकते, इसलिये वे श्वेत प्रतीत होते हैं। इस कारण किसी पुरुष या स्त्रीका गोरापन उसका अपना नहीं है। वह तो सूर्यरश्मिकी एक छायामात्र है। छाया तो कोई वस्तु ही नहीं है। इसी कारण सुन्दरताको चक्षुका भ्रमज्ञान मात्र कहा गया है।

सुन्दरतामें लावण्य, कान्ति, मोहकता भी आती है तो वह भी जीवके मनकी कल्पनामात्र है। शूकरको शूकरी कर्दमाक्त होनेपर भी सुन्दर ही प्रतीत होती है; छछूंदरीको छछूंदर सुन्दर दीखता है; सिंहनी सिंहके सामने अति सुन्दर है; परंतु मनुष्यके सामने उनमेंसे एक भी सुन्दर नहीं है और न कोई मनुष्य उन जन्तुओंके सामने सुन्दर है। इसी कारण लावण्य, कान्ति या मोहकता जीवके मनकी कल्पनामात्र है।

इस प्रकारके विचारसे बुद्धिमान् मनुष्य शरीरकी कल्पित सुन्दरताके लिये अहंकार नहीं करते। साधारण मनुष्य ही सुन्दरताको सत्य समझकर उसपर अभिमान करता है और उस अभिमानका बुरा फल भी उसे भोगना पड़ता है।

किसी सुन्दरी स्त्रीके चर्म, मांस, रक्त, वाष्प-जल और नेत्र आदिको पृथक् करके देखो। यदि उनमें कुछ भी रमणीयता दीख पड़े तो आनन्द प्राप्त करो; नहीं तो वृथा ही क्यों मोहित होकर परिताप पाते हो?—

त्वङ्मांसरक्तवाष्पाम्बु पृथक् कृत्वा विलोचनम्।
समालोकय रम्यं चेत् किं मुधा परिमुह्यसि॥
(योगवासिष्ठ, वैराग्यप्रकरण २१। २)।

बल दो प्रकारके हैं—शरीरबल (पशुबल) और अन्तःकरणका बल (बुद्धिबल)। बल तो शक्तिमात्र है। शक्ति वस्तुका आश्रय लेकर रहती है, जैसे अग्निमें दाहिका शक्ति, वायुमें गति-शक्ति, जलमें पिपासा-निवृत्तिकी शक्ति। शक्ति कभी-कभी वस्तुमें लुप्त भी हो जाती है। तेजस्तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है, किंतु उसमें दाहिका शक्ति नहीं प्रतीत होती। काष्ठोंके घर्षणसे अग्निकी उत्पत्ति होनेपर दाहिका शक्ति प्रकट होती है; फिर उस अग्निको बुझा देनेपर वह दाहिका शक्ति व्यापक तेजस्तत्त्वमें लीन हो जाती है। स्थिर वायुमें गति-शक्ति नहीं रहती। घड़ेमें वायु भरी रहती है। उस घड़ेका मुँह अच्छी तरह बंद कर देनेपर उस घड़ेको हिलाने-डुलानेपर भी भीतरकी वायुमें गति नहीं होती। जल जमकर बर्फ हो जानेपर वह पिपासा नहीं बुझा सकता। बर्फमें जलकी पिपासा बुझानेकी शक्ति लुप्त हो जाती है। बर्फ पिघलकर फिरसे जल हो जानेपर उसमें पिपासा-निवृत्ति-की शक्ति आ जाती है। जो वस्तु उत्पत्ति-विनाशशील है, वह अनित्य अर्थात् मिथ्या है।

प्रतिदिन निद्राके समय शरीरके रहते हुए भी बल लुप्त हो जाता है; अतः वह मिथ्या है। मायाकल्पित मिथ्या संसारमें मिथ्याका ही तो व्यवहार होता है। बल्कि मिथ्या जानकर व्यावहारिक क्षेत्रोंमें उसका सदुपयोग करनेसे सुख ही रहता है। मिथ्या वस्तुपर अहंकार करके दुःख नहीं भोगना पड़ता।

बुद्धि अन्तःकरणकी एक वृत्तिमात्र है। वेदान्त-मतानुसार अन्तःकरण पाँच सूक्ष्म भूतोंके समष्टि सात्त्विक अंशोंसे उत्पन्न हुआ है। सात्त्विक अंशोंमें भी तारतम्य है। अन्तःकरणके सत्त्वगुणकी सोलह कलाएँ मानी गयी हैं— प्रस्तर, तृण, कीट, मत्स्य, पक्षी, चूहा, बिल्ली, कुत्ता, मृग, सिंह, गौ, मनुष्य आदि। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज— इन चार प्रकारके जीवोंमें क्रमशः अन्तःकरणके सत्त्वगुणमें एक-एक कलाकी वृद्धि होकर सभ्य मनुष्योंतक आठ कलाओंका विकास होता है। आठसे अधिक कलाओंका विकास होनेपर जीव अवतार-कोटिमें गिने जाते हैं। श्रीकृष्ण सोलह कलाओंसे पूर्ण अवतार कहे जाते हैं (एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—भागवत)। अन्तःकरणमें सत्त्वगुण-की अधिकताके कारण मनुष्य बुद्धिमान् कहलाते हैं। बुद्धि अधिक हो या अल्प, है तो वह प्राकृतिक सत्त्वगुण ही— 'सत्त्वं लघु प्रकाशकम्—सांख्यकारिका १३—सत्त्वगुण प्रकाश करता है' अर्थात् वस्तुका ज्ञान प्राप्त कराता है। 'जिस अन्तःकरणमें सत्त्वगुणका विकास होता है, वह स्वयं मायाकल्पित है' कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित् प्रतिबिम्बकः (पञ्चदशी, चित्तदीपप्रकरण ६। २३)। बुद्धि कूटस्थ आत्मापर कल्पित है, अतः उस कल्पित बुद्धिपर, चाहे वह कितनी ही विकासप्राप्त क्यों न हो, विचारवान् पुरुष अहंकार नहीं करते।

एक देशके लोगोंकी भाषाका अर्थ दूसरे देशके लोग नहीं समझते। यदि शब्दोंका अर्थ ईश्वरका बनाया या प्राकृतिक होता तो ईश्वर-सृष्ट जलके द्वारा पृथ्वीभरके समस्त जीव-जन्तुओंकी पिपासा-निवृत्ति होनेके समान सभी देशोंके लोग उन शब्दोंका अर्थ समझ लेते। इस विचारसे निश्चय हो गया कि भाषा मनुष्य-कल्पित है। ऐसी कल्पित भाषाका ज्ञान प्राप्तकर विचारशील पुरुषको उसपर अभिमान नहीं होता; बल्कि भाषाको मिथ्या जानकर उसका सदुपयोग कर सकनेसे मनुष्यको आनन्द ही प्राप्त हो सकता है। पृथ्वीभर-में लगभग २५ हजार भाषाएँ हैं। एक भाषाका अर्थ दूसरी भाषा बोलनेवाले नहीं समझते। हमारे भारतके दक्षिण प्रान्तके तमिल, तेलगु, कन्नड़ और मलयालम् भाषा-भाषी लोग जब हमारे उत्तर प्रान्तमें आकर अपनी भाषामें बात-चीत करते हैं तो उसके एक वर्णका अर्थ भी हम नहीं समझ पाते। किसी सभ्य मनुष्यके अपने घरमें आनेपर गृहस्थ उनका स्वागत करते हुए कहता है—'महाशय! बहुत दिनोंके बाद आपने मेरे यहाँ आनेकी कृपा की है; आपको देखनेसे आनन्द होता है; कहिये, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ।' इन शिष्ट शब्दोंको सुनकर आगन्तुक बहुत ही प्रसन्न होता है। उधरसे एक दूसरा व्यक्ति आया। देखते ही गृहस्थ चिल्ला उठा—'अरे! तू क्यों आया? तुझे मारकर निकाल दूँगा।' वह व्यक्ति समर्थ हो तो गृहस्थसे लड़ जायगा, दुर्बल हो तो भाग जायगा। इन दोनों बातोंको चीन, जापान, जर्मनी आदि देशोंमें जाकर कहनेसे कोई कुछ अर्थ नहीं समझ सकेगा; बल्कि वे अपनी-अपनी भाषामें कहेंगे कि 'पगला क्या बक रहा है?'

ऐसी मिथ्या भाषाओंमें विद्वान् लोग अपना ज्ञान भर देते हैं, जिससे बड़े-बड़े ग्रन्थ तैयार होते हैं और उन ग्रन्थोंको पढ़कर लोग विद्वान् होते और यथेष्ट धन कमाकर अपने जीवनको सुखी बना सकते हैं। इस मायाकल्पित संसारमें मिथ्याका ही तो व्यवहार होता है। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति मिथ्या भाषा पढ़कर कभी अहंकार नहीं करते।

धन भी मनुष्य-कल्पित है। धातुकी मुद्राएँ और कागजके नोट धन-रूपमें गिने जाते हैं। धातु एक प्रकारकी मिट्टीका विकार है। कागज भी मिट्टीसे बने घास-बाँस आदिको कुचलकर उसकी लुग्दीसे बनाया जाता है। अतः कागज भी मिट्टीका ही विकार है। धातुके टुकड़ों और कागजके खण्डोंपर राजकीय मुहर लगाकर विभिन्न देशोंमें रुपये-पैसेके नामसे चलाये जाते हैं। एक देशकी मुद्रा या नोट दूसरे देशमें नहीं चलते। अतः मिथ्या धनपर भी अहंकार नहीं करना चाहिये।

मकान, जमीन आदिको भी लोग सम्पत्ति मानते हैं। मकान तो कोई चीज ही नहीं है। ईंट, काठ, पत्थर, लोहा आदिको खोलकर अलग-अलग कर देनेसे मकानका अस्तित्व लुप्त हो जाता है। मकान बननेके पहले नहीं था, टूट जानेपर भी नहीं रहता, अतः वर्तमानमें दिखायी पड़नेपर भी वह नहीं है। शंकराचार्यजीके दादागुरु गौड़पादाचार्य महोदयने माण्डूक्य उपनिषद्की व्याख्या करते हुए लिखा है— 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा।' (२। ३५)

अर्थात् आदि और अन्तमें जो नहीं रहता, वर्तमानमें भी वह नहीं है। यहाँ बौद्ध दार्शनिक रथका उदाहरण देते हैं। लकड़ियोंको खोल डालनेपर रथ नहीं रह जाता। जमीन ईश्वरकी है।

यश भी कोई वस्तु नहीं है। वह लोगोंके मुखके प्रशंसा-वाक्य मात्र है। वाक्य मिथ्या है, इस कारण यश भी मिथ्या हो गया।

पितृत्व, पतित्व आदिका भी लोग अहंकार करते हैं। पुत्रका एक नाखून, हड्डीका एक टुकड़ा, एक बूँद खून पिता बना नहीं सकता तो पुत्र उसका कैसे हुआ? अपने घरके किस स्थानमें कौन चीज है, उसे मालिक जानता है। पुत्रके शरीरमें क्या-क्या चीजें हैं, उसके मनमें कैसे-कैसे विचार होते रहते हैं, उन्हें पिता नहीं जानता। पिता अपने इच्छानुसार कन्या या पुत्र उत्पन्न नहीं कर सकता। ईश्वरकी प्रेरणासे प्रकृतिके नियमसे हर एक देश और हर एक जातिमें प्रायः समान संख्यामें पुत्र-कन्याएँ उत्पन्न होती हैं। उनपर अहंकार करना अनुचित है।

पति भी अपनी पत्नीपर ममत्वाभिमान नहीं कर सकता। संयोगसे उसका विवाह इस मनुष्यके साथ हो गया है। वह दूसरे पुरुषसे भी ब्याही जा सकती थी। पत्नीको ईश्वरकी धरोहर समझकर उसे यत्नसे पालने और उसकी सुरक्षा करनेसे जीवनभर सुख ही मिल सकता है।

अहंकार पतनका कारण है—सभी देशोंके अनुभवी विद्वानोंका यही अभिमत है। अपनी शक्तिका अहंकार किया था रावण, शिशुपाल, कंस, दुर्योधन, नेपोलियन, हिटलर, तोजो आदिने, जिनका पतन संसारमें प्रसिद्ध है। अपने चारों ओर हम अहंकारियोंका पतन देखते रहते हैं। अतः सिद्धान्त यह निकला कि दुःखोंके कारणरूप अज्ञानसे उत्पन्न अहंकारका परित्याग बुद्धिमान् मनुष्योंको सब प्रकारके प्रयत्नोंद्वारा करना उचित है।

मनुष्यके ९५ प्रतिशत दुःख अहंकारपर ठेस लगनेसे ही होते हैं। अतः अहंकारका पूर्णतया परित्याग करनेसे जीवन-सुखमय हो सकता है।

मैं सदा साथ रहता हूँ

(श्रीजेम्स डिलेट फ्रीमैनके विचारोंका भावानुवाद)

क्या आपको मेरी आवश्यकता है?
मैं हूँ।
आप मुझे देख नहीं सकते,
लेकिन मैं प्रकाश हूँ, जिसमें आप देखते हैं।
आप मुझे सुन नहीं सकते,
लेकिन मैं आपकी ही वाणीमें बोलता हूँ।
आप मेरा स्पर्श नहीं कर सकते,
पर मैं वह शक्ति हूँ, जिसके द्वारा
आपके हाथ काम करते हैं।
मैं निरन्तर काम करता रहता हूँ,
लेकिन आप मेरे कामका पता नहीं लगा पाते हैं।
न तो मैं अद्भुत दृश्य हूँ,
न मैं किसी भी प्रकारका रहस्य हूँ।
परम शान्तिमें, अपने-आपसे परे होकर
आप मुझे, जैसा मैं हूँ, जान सकते हैं
और यह श्रद्धा और विश्वाससे ही सम्भव है।
मैं हूँ, मैं आपकी बात सुनता हूँ,
मैं आपको उत्तर देता हूँ।
मैं वहाँ हूँ, जहाँ आपको
मेरी आवश्यकता होती है।
आप भले ही कह दें कि मैं नहीं हूँ;
लेकिन मैं हूँ।
जहाँ और जब आप अपने-आपको
नितान्त एकान्तमें पाते हैं,
मैं ही उसमें विद्यमान रहता हूँ।
आपके भयमें मैं आपके
साथ रहता हूँ।
आपकी पीड़ामें मैं आपका
साथ नहीं छोड़ता।
आप प्रार्थना करें, चाहे न करें,
मैं सदा साथ रहता हूँ।
यद्यपि आपका विश्वास मेरे प्रति अटल निश्चित नहीं है,
तथापि मेरा विश्वास आपमें
कभी विचलित ही नहीं होता है।
इसका कारण यह है कि मैं
आपको जानता हूँ।
मैं आपसे प्रेम करता हूँ,
मेरे प्रिय प्रेमास्पद!
मैं सदा आपके साथ रहता हूँ।

—अनुवादक श्रीरामलाल

भक्तिके अन्तराय

(लेखक—डॉ० श्रीशम्भुशरणजी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भगवद्भक्तिकी प्राप्तिके लिये भक्तिके अन्तरायोंसे बचकर रहना चाहिये। वस्तुतः भक्तिके क्षेत्रमें 'करणीय'के साथ-साथ कुछ 'अकरणीय' भी हैं। देवर्षि नारदने कुछ ऐसे ही अन्तरायोंकी चर्चा की है। लोकहानिकी चिन्ता[1], लौकिक और वैदिक व्यवहारोंके परित्यागका मात्र अभिनय[2], स्त्री, धन, नास्तिक और शत्रुके चरित्रका श्रवण[3] तथा अभिमान और दम्भ[4]—कुछ ऐसे अन्तराय हैं, जिनके रहते भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अभिमान और कुटिलता भक्तिके बड़े बाधक हैं। भक्तीच्छु मनुष्यको कभी नहीं मानना चाहिये कि मैं कामिनी-काञ्चनका त्यागी हूँ, परम आस्तिक हूँ, अजातशत्रु हूँ। अभिमान पतनका हेतु है। सम्पत्ति, स्वास्थ्य, विद्या, बुद्धि, कुल, वर्ण, आश्रम, आचार, रूप, पद, पुरुषत्व आदि किसी भी विषयका अभिमान नहीं करना चाहिये। यहाँतक कि निरभिमानता-के अभिमानको भी छोड़ देना चाहिये। 'मैं अभिमानी नहीं हूँ'—यह भी अभिमान ही है। इसे 'निरभिमानता-का अभिमान' कहते हैं। ढोंग करनेको 'दम्भ' कहते हैं। जो गुण अपनेमें न हों, उनको किसी धन-मानके लोभवश या मात्र दुष्ट स्वभाववश अपनेमें प्रदर्शित करना और तदर्थ कपट वेष धारण करना दम्भ है। 'मैं बड़ा भक्त हूँ'—यह जतानेके लिये कपटपूर्ण वेष-भूषा धारण करना दम्भ है। कपटरूपी खटाई भक्तिरूपी क्षीरको फाड़ देती है।[5] अभिमान और दम्भके साथ सूत्रकारने 'आदि' पदका योग समस्त आसुरी सम्पदाओंकी ओर लक्ष्य करनेके अभिप्राय-से किया है। ये आसुरी सम्पदाएँ नितान्त परित्याज्य हैं, जिनका वर्णन गीता अध्याय १६। ४ में इस प्रकार हुआ है—

> दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
> अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥

अर्थात् 'हे पार्थ! पाखण्ड, घमंड, अभिमान, क्रोध, कठोर स्वभाव एवं कटु भाषण और अज्ञान—ये सभी आसुरी सम्पदाको प्राप्त व्यक्तिके लक्षण हैं।' काम-क्रोध भक्तिके प्रबल अन्तराय हैं। काम ईश्वरके प्रति करना चाहिये। भगवान्‌के साथ तन्मय होनेका यह सबसे अच्छा उपाय है। क्रोधादिका प्रयोग अन्य आसुरी सम्पदाओंका विनाश करनेके लिये करना चाहिये। भक्तिके बड़े अन्तरायोंमें दुस्सङ्ग निर्विवादरूपसे स्वीकृत है। वस्तुतः सत्सङ्गकी विधिमें ही दुस्सङ्गका निषेध गम्य है, परंतु सत्सङ्गपर बल देने और दुस्सङ्गकी अनिष्टकारकतापर विशेषरूपसे ध्यान आकृष्ट करनेके लिये स्वतन्त्र रूपमें इसका कथन किया गया है। श्रीमद्भागवत-महापुराण, अध्याय ३१में कुसङ्गको भक्तिका अन्तराय मानकर इसे सर्वथा त्याज्य कहा गया है—

> यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः।
> आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥
> सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा।
> शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम्॥
> तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।
> सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥

अर्थात् 'सन्मार्गमें चलते हुए यदि इसका किन्हीं जिह्वा और उपस्थेन्द्रियके भोगमें लगे हुए विषयी पुरुषोंसे समागम हो जाता है और वह उनमें आस्था करके उन्हींका अनुगमन करने लगता है तो पहलेके समान ही फिर नारकी योनियोंमें पड़ता है। जिनके सङ्गसे इसके सत्य, शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), दया, वाणीका संयम, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, लज्जा, यश, क्षमा, मन और इन्द्रियोंका संयम तथा ऐश्वर्य आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं; उन अत्यन्त शोचनीय, स्त्रियोंके क्रीडामृग, अशान्त, मूढ़ और देहात्मदर्शी असत्पुरुषोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये।' श्रीरामचरितमानस (५। ४५। ४)में गोस्वामी तुलसीदासजीने मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीसे दुस्सङ्गकी निन्दा इस प्रकार करवायी है—

> 'बरु भल बास नरक कर ताता।
> दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥'

परंतु भक्तिके अन्तरायोंके संदर्भमें यह दुस्सङ्ग व्यापक अर्थमें प्रयुक्त है। इन्द्रियोंका कोई विषय, जो हमारे मनमें

१—नारदभक्तिसूत्र ६१
२—वही, ६२
३—,, ६३
४—,, ६४
५—जलु पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि।
बिलग होइ रसु जाइ कपट खटाई परत पुनि॥
—बालकाण्ड, सोरठा ५७ (ख)

असद्विचार तथा विषयोंकी लालसा उत्पन्न करे और भगवत्प्राप्तिके मार्गसे हमारे चित्तको विचलित कर दे, वह दुस्सङ्ग है। सत्सङ्गकी प्रवृत्ति भगवत्कथा, भगवच्चर्चा, भगवन्नाम, भगवत्प्रीति, सदाचार, शास्त्रानुरक्ति, विवेक, वैराग्य, सदभ्यास, सरलता, नम्रता, क्षमा, तितिक्षा, शौच, दया, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, निरभिमानता, शान्ति, सेवा आदिसे होती है। स्पष्ट है कि सत्सङ्गकी प्रवृत्ति उत्पन्न करनेवाले इन गुणोंके विरोधी धर्म यथा—विषयवार्त्ता, जगच्चर्चा, लोकनिन्दा, भोग-प्रीति, दुराचार, उच्छृङ्खलता, अविवेक, विषय-लोलुपता, दुष्टाभ्यास, मान, दम्भ, घमंड, क्रोध, असहिष्णुता, अपवित्रता, निर्दयता, हिंसा, असत्य, इन्द्रिय-लम्पटता, अभिमान और अशान्ति भक्तिके अन्तराय कुसङ्गकी प्रवृत्तिको प्रोत्साहित करते हैं। यह भी ध्यानमें रखनेयोग्य है कि सत्सङ्ग एवं दुस्सङ्गकी इन प्रवृत्तियोंमें परस्पर भक्ष्य-भक्षकभाव-सम्बन्ध है। नारदभक्तिसूत्रके चौवालीसवें सूत्रमें दुस्सङ्गको काम-क्रोधादि एवं सर्वनाशका कारण कहा गया है। गीतामें भी ऐसा ही कहा गया है।[६] काम तो कभी तृप्त ही नहीं होता।[७] कुसङ्गजन्य विषयासक्तिकी गतिदिशाका उल्लेख गीतामें इस प्रकार किया गया है—विषय-चिन्तन, विषयासक्ति, कामना, क्रोध, सम्मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश, सर्वनाश। काम-क्रोधादिको कभी छोटा नहीं मानना चाहिये। नारदभक्तिसूत्रके पैंतालीसवें सूत्रका आशय यह है कि यदि काम-क्रोध तरंगकी भाँति लघु हों तो भी दुस्सङ्गसे महासागर बनकर अपने आश्रयको आक्रान्त कर लेते हैं[८]। भक्तिके अन्तरायोंमें वाद-विवाद बड़ा ही भयंकर है; क्योंकि इस वाद-विवादका कोई अन्त नहीं है; क्योंकि वाद-विवादमें बाहुल्यका अवकाश है और वह अनियत है।[९] वाद-विवादमें लगनेका अर्थ ही है सर्वात्मसमर्पण-भावका अभाव; क्योंकि वादीको तो वह समय भगवच्चिन्तन और भगवच्चर्चामें लगाना था। तर्कसे परम तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होती। यह सत्य है कि 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः', किंतु यह वहाँके लिये कहा गया है, जहाँ जिज्ञासापूर्वक शिष्य गुरुसे तर्क करता है और उसके प्रत्येक तर्कको महत्तर तर्कसे खण्डितकर गुरु अपने शिष्यको तत्त्वका सम्यक् बोध कराते हैं। परंतु गुरु-शिष्य-सम्बन्धके अभावमें विरोधी-मत-खण्डनार्थ ही जहाँ तर्क किया जाय, वह तर्क वैर-वर्धक होता है। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'के साथ ही 'वादे वादे वर्धते वैरवह्निः' भी कहा गया है। इसीलिये ब्रह्मसूत्रमें तर्ककी अप्रतिष्ठा कही गयी है।[१०] यदि कोई विवादी ताल ठोंके भी तो 'मौनं सर्वार्थसाधनम्'—समझकर चुप ही रह जाना चाहिये। ऐसी बात सुने ही नहीं, जिससे अपने विश्वासमें बाधा आ जाय। ऐसी बात स्वयं भी न करे, जिससे किसीका जी दुखे। इसीलिये देवर्षि नारदने वाद-विवादमें न फँसनेका आदेश दिया है।[११] श्रीमद्भगवद्गीतामें भी जिस आसुरी सम्पत्तिकी विशद चर्चा है[१२], वह भक्तिका बड़ा अन्तराय है; अतः सर्वथा त्याज्य है। इसी प्रसङ्गमें काम, क्रोध और लोभको 'नरकका द्वार' कहा गया है।[१३] नानापुराणनिगमागमसार श्रीरामचरितमानसमें भगवच्चरणमें श्रद्धाके अभाव, सत्सङ्गाभाव, रामरतिके अभाव, नींद, विषयवासना और अभिमानको भक्तिके अन्तरायोंके रूपमें बताया गया है—

कठिन कुसंग कुपंथ कराला। तिन्ह के बचन बाघ हरि ब्याला॥
गृह कारज नाना जंजाला। ते अति दुर्गम सैल बिसाला॥
बन बहु बिषम मोह मद माना। नदीं कुतर्क भयंकर नाना॥
... ...
जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहिं नीद जुड़ाई होई॥
जड़ता जाड़ बिषम उर लागा। गएहुँ न मज्जन पाव अभागा॥
करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवइ समेत अभिमाना॥
जौं बहोरि कोउ पूछन आवा। सर निंदा करि ताहि बुझावा॥
(१।३७।४-५; ३८।१-२)

किंतु भक्तिके इन सभी अन्तरायोंकी एक ही रामबाण औषध है और वह है श्रीरामकृपा।[१४]

६—श्रीमद्भगवद्गीता २।६२-६३
७— " ३।३७
८—तरंगायिता अपीमे सङ्गात् समुद्रायन्ति।
९—बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च ना. भ. सूत्र ७५।
१०—तर्काप्रतिष्ठानात्—ब्रह्मसूत्र १।१।११
११—वादो नावलम्ब्यः। ना० भ० सूत्र ७४
१२—गीता १६।७—२०
१३— " १६।२१
१४—सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपाँ बिलोकहिं जेही॥
सोइ सादर सर मज्जनु करई। महाघोर त्रयताप न जरई॥ (मानस १।३८।३)

अपनी धर्मबुद्धि विकसित करते रहिये !

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

जो गुण मनुष्यको पशुओं और अल्प-विकसित प्राणियोंसे पृथक् करता है, उस दिव्य तत्त्वको 'धर्म' कहते हैं। 'धर्म' शब्द उन सद्गुणोंके लिये प्रयुक्त होता है, जो मानव-जीवनके श्रेष्ठतम तत्त्व कहे जाते हैं और जीवनका सही दिशामें निर्माण करनेवाले हैं। किसी समाजका उत्थान उन्हीं पवित्र गुणोंके बलपर होता है, जिन्हें लोकभाषामें 'धर्म'के नामसे सम्बोधित किया जाता है। जबतक धर्म मनुष्यके साथ है, तबतक उसकी उन्नति निश्चित है। जब धर्म उसे छोड़ देता है, तब देर-सबेर उसकी अवनति प्रारम्भ हो जाती है। आप जिन महान् व्यक्तियोंकी सफलताओंको देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं, उनके चरित्रकी नींवमें धर्मके तत्त्व ही कार्य करते रहे हैं। धर्मके साथ धन, प्रतिष्ठा, गौरव, यश, कीर्ति—सब कुछ प्राप्त हो जाता है। अतः हमें धर्मकी वृद्धिके लिये सतत प्रयत्न करते रहना चाहिये। ठीक ही कहा गया है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्॥

(मनुस्मृति ८। १५)

'यदि हम धर्मकी उपेक्षा कर दें तो (हम अविकसित अल्प-विवेकी मूर्ख रह जाते हैं और फलस्वरूप) वह हमें मार भी देता है। धर्मके नियमोंका जीवनमें पालन करें तो वह भी हमारी रक्षा करता है। इसलिये धर्मके नियमोंको हम न छोड़ें, ताकि मारा हुआ धर्म हमें मार न दे।'

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्मसंग्रहः॥

(पञ्चतन्त्र ३। ९४)

'आपका यह हाड़-मांसका शरीर अनित्य अर्थात् नाशशील है। आपकी सम्पत्ति भी आपके पास निरन्तर नहीं रहती। हमारे प्राणोंको मृत्युका भय सदा ही लगा रहता है। इन सबसे बचनेके लिये हमें सदा धर्मका संग्रह करना चाहिये—धर्मबुद्धिको विकसित करते रहना चाहिये।'

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चले जीवितमन्दिरे।
चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः॥

(चाणक्यनीति ५। २०)

'लक्ष्मी (आपका धन) और प्राण—दोनों ही इस जीवनमें आपके पाससे चले जानेवाले हैं। इस चलाचलीके अस्थिर संसारमें केवलमात्र आपका धर्म ही स्थिर है; वही आपकी रक्षा करनेवाला तत्त्व है।'

धर्मो माता पिता चैव धर्मो बन्धुः सुहृत्तथा।
धर्मः स्वर्गस्य सोपानं धर्मात् स्वर्गो ह्यवाप्यते॥

'याद रखिये, आपका धर्म ही माता, पिता, बन्धु, मित्र—सब कुछ है। धर्म स्वर्गतक चढ़नेकी सीढ़ी है। धर्म-पालनसे ही स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है।'

वने रणे शत्रुजलाग्निमध्ये
महार्णवे पर्वतमस्तके च।
सुप्तं प्रमत्तं विषमस्थितं वा
रक्षन्ति पुण्यानि पुरा कृतानि॥

(नीतिशतक १। ९७)

'मनुष्य जंगलमें हो, युद्धक्षेत्रमें हो, शत्रु, जल या अग्निके बीचमें हो, विशाल समुद्रमें हो या पर्वतके शिखरपर सो रहा हो, बेहोश हो या कठिनाइयोंसे ग्रस्त हो, पहलेका किया हुआ धर्म ही उसकी रक्षा करता है।'

धर्मबुद्धि समाजमें उसे समादृत कराती है और जीवनको आनन्द, उल्लास, सफलता, उत्साह और मनःशान्तिसे भरपूर कर देती है। मनुष्य शान्त और

परिपक्व रहता है। सचमुच धर्म-भावना हममें आत्मविश्वास, साहस, स्फूर्ति और संतोष भरती है।

अब प्रश्न उठता है कि सार-रूपमें धर्म क्या है? वे कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं, जो मनुष्यमें धर्मका होना स्पष्ट करती हैं? आहार, निद्रा, भय, मैथुन—ये सब तो पशुओंमें भी पाये जाते हैं। पशुओंसे पृथक् करनेवाले कौन-से गुण धर्मके अन्तर्गत रखे गये हैं? वे कौन-से जीवन-तत्त्व हैं, जो मनुष्यकी उत्कृष्ट भावनाओंको उद्दीप्त करनेवाले हैं; तन, मन और आत्माको स्वास्थ्य देने और चिन्ताको दूर करनेवाले हैं? बड़े-बड़े विद्वानों और तत्त्ववेत्ताओंने उन तत्त्वोंको खोजने और निर्णय करनेमें बुद्धि लगायी है और अन्तमें एक निर्णयपर पहुँचे हैं। आइये, कुछ परिभाषाएँ देखें कि धर्म बनानेवाले कौन-से निर्णायक गुण हैं।

धर्म जीवन जीनेकी वह उपयोगी कला है, जिसकी सहायतासे मनुष्यके शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक क्रिया-कलाप सही दिशामें विकसित किये जाते हैं। यह आत्म-विकासके साथ लोक-कल्याण-प्राप्तिका और कष्टोंसे मुक्तिका सर्वोच्च साधन है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनुस्मृति ६। ९२)

'धैर्य, क्षमा, चित्तवृत्तियोंपर काबू रखना, चोरी न करना, आन्तरिक और बाह्य शुद्धि, इन्द्रिय-संयम, बुद्धि-विकास, विद्या, सत्य तथा क्रोध न करना—ये मानवधर्मके दस प्रमुख लक्षण हैं।' जो व्यक्ति इन सद्गुणोंका विकास कर लेता है और दैनिक जीवनमें इनका पर्याप्त व्यवहार करता है, उसे हम धार्मिक कह सकते हैं। वही श्रेष्ठ है, वही आदरणीय है।

इन गुणोंको विकसित करना और अपने दैनिक कार्य तथा व्यवहारमें उन्हें निरन्तर स्पष्ट करना धर्ममें मुख्य बात है। ये सब तत्त्व कहनेमें तो संक्षिप्त-से लगते हैं, किंतु इनमें अर्थ-विस्तार भरा पड़ा है। धर्म वह है, जो धारण किया जाय, अर्थात् प्रत्येक आचरणसे सुस्पष्ट व्यक्त होता चले। यदि इन दिव्य गुणोंपर आचरण न किया जाय तो वह असत्यता ही है। धर्म कार्योंमें, आचार-व्यवहारमें, जीवन जीनेकी प्रणालीमें स्पष्ट होता रहना चाहिये। वैयक्तिक जीवनसे लेकर पारिवारिक, सामाजिक एवं मानवीय कर्त्तव्यपरायणता धर्मके अन्तर्गत आती है। धर्मसे आत्मविकास होता है, जिससे मनुष्य भौतिक और आध्यात्मिक जीवनकी सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

धर्मका क्षेत्र जीवनकी तरह अत्यन्त व्यापक है। जहाँ वह मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनको समुन्नत करता और स्वस्थ दिशाएँ देता है, वहाँ भौतिक क्षेत्रमें सामाजिक जीवनको भी संतुलित, पुष्ट और नैतिक बनाता है। जब धर्म कला, व्यवसाय, राजनीति, न्याय-व्यवस्था, कृषि, उद्योग आदि क्षेत्रोंमें प्रवेश करता है, तब वह इन्हें लोक-मङ्गलकारी, स्वस्थ और उपयोगी दिशाओंमें चलनेकी प्रेरणा देता है। समाजका नैतिक दिशाओंमें विकास करता है। जहाँ बाहरी नियन्त्रण काम नहीं करते, वहाँ धर्म-भावना अपना चमत्कार दिखाती है।

आज हमारे समाजमें जो निन्द्य प्रवृत्तियाँ, जैसे—भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, ठगी, बेईमानी, अनुशासनहीनता, हिंसा, विलासिता, कामुकता, नशेबाजी, रक्तपात, गुटबंदी, आपा-धापी, पक्षपात आदि—पनप रही हैं, उनका कारण यह है कि मनुष्य अपनी विशेषता—धर्म-भावनाको भूलता चला जा रहा है। नैतिक मूल्यों और सत्प्रवृत्तियोंको कोई प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है। धर्मबुद्धिको प्रेरणा देनेसे मानवके सद्गुणों, जैसे—आत्मीयता, समता, उदारता, सहिष्णुता, श्रमशीलता, सच्चरित्रता, शिष्टता, मानवता आदिका समुचित विकास हो सकता है। समाज तथा परिवारोंमें चारों ओर मधुरता और सज्जनताका वातावरण उत्पन्न हो सकता

है; सद्विचारों और सत्कर्मोंका प्रसार हो सकता है।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥
(मनु० २। १२)

'वेदों तथा स्मृतियोंकी पावन उपयोगी शिक्षाएँ,सदाचारके कल्याणकारी नियम तथा अपनेको जो सिद्धान्त समाजके लिये प्रिय लगें, दूसरोंके साथ उन्हींके अनुरूप सत्—शिष्ट व्यवहार, यह चार प्रकारका सदाचरण धर्म है।'

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

'महर्षि व्यासके विशालकाय अठारह पुराणोंमें दो बातें बड़े महत्त्वकी हैं—अधिक-से-अधिक परोपकार कीजिये (स्वार्थके लिये नहीं, परमार्थके लिये, दूसरोंकी सेवाके लिये जीवन बिताइये) यह पुण्यका काम है और परपीड़न पाप है। दूसरोंको मन-वचन-कर्मद्वारा कदापि मत सताइये।'

धर्मबुद्धि आपको व्यर्थके झगड़ोंसे बचाने और नीति, सदाचार, संयम, कर्तव्यपरायणता एवं आस्तिकताकी ओर ले जानेवाली शक्ति है। यह आपको सुधारेगी और दुर्बुद्धि, आलस्य, अपराध, आवेश-जैसे दोष-दुर्गुण मिटायेगी। अतः अपने विवेकको निरन्तर बढ़ाते रहिये। एक धर्म-परायण व्यक्तिकी भावना है—

सपदि विलयमेतु राजलक्ष्मी-
रुपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः।
अपहरतुतरां शिरः कृतान्तो
मम तु मतिर्न मनागपैतु धर्मात्॥

'राजलक्ष्मी चाहे आज ही चली जाय, चाहे मुझपर तेज धारवाली तलवार आज ही गिर पड़े, यमराज आज ही मेरा सिर काट ले, किंतु मेरी बुद्धि धर्मसे तनिक भी विचलित न हो।' अपनी इस विशेषता—धर्मबुद्धिको बढ़ाते रहिये!

गीताध्ययनकी सार्थकता

एक विद्वान् ब्राह्मणने एक बार राजाके पास जाकर कहा—'महाराज! मैंने धर्मग्रन्थोंका अच्छा अध्ययन किया है। मैं आपको भगवद्गीता पढ़ाना चाहता हूँ।' राजा विद्वान्से अधिक चतुर था। उसने मनमें विचारा—'जिस मनुष्यने भगवद्गीताका अध्ययन किया होगा वह और भी अधिक आत्मचिन्तन करेगा, राजाओंके दरबारकी प्रतिष्ठा और धनके पीछे थोड़े ही पड़ा रहेगा।' ऐसा विचारकर राजाने ब्राह्मणसे कहा—'महाराज! आपने स्वयं गीताका पूर्ण अध्ययन नहीं किया है। मैं आपको शिक्षक बनानेका वचन देता हूँ, लेकिन आप अभी जाकर गीताका अध्ययन और अच्छी तरह कीजिये।' ब्राह्मण चला गया, लेकिन वह बराबर यही सोचता गया कि 'देखो तो राजा कितना बड़ा मूर्ख है! वह कहता है कि तुमने गीताका पूर्ण अध्ययन नहीं किया और मैं कई वर्षोंसे उसीका बराबर अध्ययन कर रहा हूँ।' उसने जाकर एक बार गीताको फिर पढ़ा और राजाके सामने उपस्थित हुआ। राजाने पुनः वही बात दुहरायी और उसे विदा कर दिया। ब्राह्मणको इससे दुःख तो बहुत हुआ, लेकिन उसने मनमें विचारा कि 'राजाके इस प्रकार कहनेका कुछ-न-कुछ मतलब अवश्य है।' वह चुपकेसे घर चला गया और अपनेको कोठरीमें बंद करके गीताका ध्यानपूर्वक अध्ययन करने लगा। धीरे-धीरे गीताके गूढ़ अर्थका प्रकाश उसकी बुद्धिपर पड़ने लगा और उसको स्पष्ट मालूम होने लगा कि 'सम्पत्ति, मान, द्रव्य और कीर्तिके लिये दरबारमें या किसी दूसरी जगह दौड़ना व्यर्थ है।' उस दिनसे वह दिन-रात एक चित्तसे ईश्वरकी आराधना करने लगा और राजाके पास नहीं गया। कुछ वर्षोंके बाद राजाको ब्राह्मणका स्मरण आया और उसकी खोज करता हुआ वह स्वयं उसके घर गया। ब्राह्मणके दिव्य तेज और प्रेमको देखकर राजा उसके चरणोंपर गिर पड़ा और बोला—'महाराज! अब आपने गीताके असली तत्त्वको समझा है; यदि मुझे अब आप अपना चेला बनाना चाहें तो मेरे लिये यह बड़ी प्रसन्नताकी बात होगी।'

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

पढ़ो, समझो और करो

(१)

जीवनमें धर्मकी प्रधानता हो

यज्ञ, दान, दीन-दुखियोंकी सेवा-सहायताके लिये धन अपेक्षित था; इस कारण उन परम पवित्र भगवद्भक्त ब्राह्मणकी एक ही कामना थी—धन-प्राप्ति । एतदर्थ उन्होंने अनेक अनुष्ठान एवं पूजा-प्रार्थना की, पर उनकी कामना पूरी न हो सकी । वे मन-ही-मन दुःखी तो थे ही, निराश भी हो गये ।

अत्यन्त दुःखसे वे सोच रहे थे—'मैं किस देवताकी आराधना करूँ, किसकी पूजा करूँ, जो मनुष्योंकी उपासनासे जड न हो गया हो तथा जो मुझपर शीघ्र प्रसन्न होकर मुझे इच्छित धन प्रदान कर दे ।' पर उनकी दृष्टिमें ऐसा कोई देवता आ नहीं रहा था ।

अचानक उन्होंने देखा—उनके सम्मुख अत्यन्त सुन्दर एवं तेजस्वी, लंबी भुजाओंवाला देवताओंका अनुचर कुण्डधार नामक मेघ खड़ा है । उसके नेत्रोंमें स्नेह दीख रहा था ।

'कदाचित् यह मुझे धन प्रदान करे ।'—ब्राह्मणने पाद्य, अर्घ्य, गन्ध, पुष्प और धूपादि उपकरणोंसे प्रीतिपूर्वक उसकी पूजा की और फिर हाथ जोड़कर वे उसके सम्मुख खड़े हो गये ।

सचमुच मेघ थोड़ी ही देरमें प्रसन्न हो गया । उसने ब्राह्मणको कुशकी शय्यापर सोनेकी आज्ञा दी । ब्राह्मण कुशकी शय्यापर सो गये । निद्रामें अब वे स्वप्न देखने लगे ।

स्वप्नमें उन्होंने सम्पूर्ण प्राणियोंके अनन्तर अत्यन्त तेजस्वी यक्षोंके राजा मणिभद्रको देखा । वे देवताओंके सम्मुख विभिन्न याचकोंको उपस्थित करते जा रहे थे । वहाँ देवगण उन याचकोंको उनके पुण्यके फलस्वरूप सम्पत्ति आदि दे रहे थे और उनके कुकर्मोंके कारण उन्हें दिये हुए राज्य, धन, वैभव—यहाँतक कि स्वास्थ्य भी छीन लेते थे ।

उसी समय कुण्डधारने हाथ जोड़कर देवताओंसे प्रार्थना की—'यदि देवगण मुझपर प्रसन्न हों तो मैं चाहता हूँ कि वे इस निर्धन ब्राह्मणपर ऐसी कृपा करें, जिससे इसे भविष्यमें कुछ सुख मिल जाय ।'

देवताओंके संकेतसे मणिभद्रने कहा—'कुण्डधार ! तुमपर प्रसन्न होनेके कारण देवता तुम्हारे सखा उस ब्राह्मणको अपरिमित धन देनेके लिये प्रस्तुत हैं ।'

'आदरणीय देव ! मैं ब्राह्मणके लिये धन नहीं माँगता हूँ ।' प्रसन्नमन कुण्डधारने निवेदन किया—'मैं अपने इस भक्त ब्राह्मणको रत्नपूरित वसुंधरा अथवा रत्नोंका विशाल भण्डार नहीं देना चाहता, अपितु मेरी तीव्रतम कामना है कि यह परम धर्मात्मा हो । इसके जीवनमें धर्मकी प्रधानता ही मुझे अभीष्ट है ।'

'कुण्डधार ! सभी देवता तुमसे और तुम्हारे सखा ब्राह्मणसे अत्यन्त संतुष्ट हैं ।' मणिभद्रने कहा—'यह ब्राह्मण धर्मात्मा होगा और इसकी बुद्धि सदा धर्ममें ही लगी रहेगी ।'

मनोवाञ्छित वर प्राप्त करनेके कारण कुण्डधार अत्यन्त प्रसन्न हुआ; किंतु ब्राह्मणके मनमें बड़ा खेद हुआ । विरक्तिके साथ उसने सोचा—'जब मेरी तपस्याका उद्देश्य मेरा शुभचिन्तक कुण्डधार ही नहीं समझ पा रहा है तो दूसरा कौन समझेगा ? अतः व्यर्थकी कामनाओंसे क्या लाभ ? अब मैं चलकर वनमें तप करूँ । धर्ममय जीवन व्यतीत करना ही उत्तम है ।' धर्मके सम्बन्धमें उनका मन और उनकी बुद्धि सुनिश्चित और सुदृढ़ हो गयी थी ।

वनमें जाकर उन्होंने तपस्या प्रारम्भ कर दी । देवताओं और अतिथियोंको अर्पित करनेके अनन्तर वे अवशिष्ट फल-मूलका आहार करते । कुछ दिनोंके बाद तपस्वी ब्राह्मणने फल-मूलका आहार भी त्याग दिया । इतना ही नहीं, कठोर तपश्चरण करते हुए उन्होंने वृक्षके पत्तों और जलको भी त्याग दिया । केवल वायुपर जीवन-निर्वाह करनेपर भी तपस्वी ब्राह्मणकी प्राण-शक्ति अक्षुण्ण बनी रही । दीर्घकालीन उग्र तपके प्रभावसे उन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी । वे स्वयं दूसरोंको अपरिमित धन प्रदान कर सकनेमें समर्थ हो गये ।

अब वे और अधिक उत्साहसे तपश्चरण करने लगे । कुछ ही दिनों बाद उन्हें ऐसी सिद्धि प्राप्त हो गयी, जिससे उनके संकल्प करते ही बड़ी-से-बड़ी वस्तु भी उनके सम्मुख उपस्थित हो जाती । वे दूसरेको राज्य भी प्रदान करनेमें समर्थ हो गये ।

एक दिन कुण्डधार तपस्वी ब्राह्मणके समीप पहुँचा ।

ब्राह्मणने उसकी अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सविधि पूजा की। कुण्डधारने कहा—'ब्रह्मन्! तुम्हें परमोत्तम दिव्य दृष्टिकी प्राप्तिसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। तुम स्वयं अपने नेत्रोंसे धनिकों एवं नरेशोंकी गति देख लो।'

अपने परम शुभचिन्तक कुण्डधारके कथनानुसार ब्राह्मणने दूरसे ही अपनी दिव्य दृष्टिसे देखा कि 'सहस्रों नरपाल नरकमें असह्य यातनाएँ सह रहे हैं और उनका कोई सहायक नहीं है। वे कष्टसे छटपटाते हुए चीत्कार कर रहे हैं।'

'विप्रवर! धनासक्त और भोगासक्त मनुष्योंके लिये स्वर्गका द्वार सदा बंद ही रहता है।' कुण्डधारने अत्यन्त प्रेमपूर्वक ब्राह्मणसे कहा—'तुम्हें असंख्य धन दिलाकर मैं तुम्हारा यथार्थ उपकार कदापि नहीं करता। तुम एक बार फिर काम, क्रोध, लोभ, भय, निद्रा, तन्द्रा और प्रमादादिसे घिरे प्राणियोंकी दुर्दशा देख लो। देखो, धन-वैभवसम्पन्न सभी जीव इन आपदाओंसे घिरे हैं।'

कुण्डधारने ब्राह्मणको समझाया—'देवता सदा ही मनुष्यसे भयभीत रहते हैं और इसी कारण देवताओंके आदेशसे कामादिक दोष मनुष्यके धर्म एवं तपमें प्रत्येक रीतिसे विघ्न उपस्थित किया करते हैं, किंतु तुम देवताओंके कृपाभाजन बनकर तपके द्वारा दूसरोंको राज्य और धन देनेमें समर्थ हो गये।'

'देव! आपने मेरा बड़ा उपकार किया है।' ब्राह्मणने कुण्डधार मेघके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया ही था कि प्रसन्न कुण्डधार अदृश्य हो गया।

तपके प्रभावसे ब्राह्मणको सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो गयीं। वे सम्पूर्ण लोकोंमें विचरण करने लगे। उनके संकल्पमात्रसे ही उनका अभीष्ट उनके सम्मुख उपस्थित हो जाता तथा धर्मके द्वारा जो सद्गति प्राप्त होती है, ब्राह्मण देवताने वह सब कुछ प्राप्त कर लिया। (महाभारतसे) —शिवनाथ दुबे

(२)

ऋणमुक्ति

भावनगर (सौराष्ट्र)में उस समय महाराजा श्रीतख्तसिंहजीका राज्य था। राज्यमें श्रीहरिप्रसाद देसाई नामक एक नागर ब्राह्मण थे, जिन्हें लोग 'कर्णका अवतार' कहनेमें प्रसन्नताका अनुभव करते थे। श्रीदेसाईजीके घर जो भी जाता, संतुष्ट होकर लौटता था। उनके दानकी सुवास बंबईतक फैली हुई थी। वे गुप्तरूपसे दान करते और अहंकार या बड़ाईका उनमें लेश भी नहीं था।

एक दिनकी घटना है कि श्रीदेसाई महोदय भोजन करनेकी तैयारी कर रहे थे कि बंबईसे एक विद्यार्थी उनके पास पहुँचा और बोला—'मुझे पाँच मिनट आपसे बात करनी है।'

'भाई!' देसाईजी बोले—'तुम बंबईसे आये हो; भोजनका समय है, पहले भोजन कर लो, पीछे मैं तुमसे घंटेभर बात करूँगा।'

विद्यार्थीके मनमें शङ्का हुई कि 'बड़े व्यक्ति हैं, भोजनके बाद आराम करेंगे और फिर घूमने-फिरने चले जायँगे; मुझे निराश वापस जाना पड़ेगा। बंबईसे यहाँ आनेका किराया भी व्यर्थ जायगा।' पर वह निरुपाय था। ईश्वरका भरोसा करके उसने श्रीदेसाईजीके साथ बैठकर भोजन किया। भोजनके पश्चात् पान लगाते हुए श्रीदेसाईजीने कहा—'अब अपनी बात कहो।'

'महाशयजी!' विद्यार्थीने संकोचके साथ कहा—'मैं इस वर्ष बंबई कालेजमें बी० ए०की परीक्षामें सर्वप्रथम आया हूँ और बैरिस्टर बननेकी इच्छासे मैं लंदन जाना चाहता हूँ। यदि आप बीस हजार रुपये मुझे उधार देनेकी कृपा करें तो स्वदेश लौटकर ब्याजके साथ आपकी रकम चुका दूँगा।'

विद्यार्थीकी बात सुनकर श्रीहरिप्रसाद देसाई हँस पड़े। वे बोले—'अरे भाई! इतनी बड़ी रकम तुम कैसे अदा करोगे?'

'मैं बैरिस्टरीमें भी सर्वप्रथम आऊँगा, मुझे विश्वास है और लौटकर मैं एक-दो वर्षमें उतनी रकम कमा लूँगा।'

विद्यार्थीका आत्मविश्वास, तेजस्वी मुख और दृढ़ निश्चय देखकर श्रीदेसाईजी प्रभावित हो गये। उन्होंने मुनीमको आदेश दिया—'इन्हें बीस हजार रुपये अभी दे दो।'

विद्यार्थी तो आज्ञा सुनकर आश्चर्य-सागरमें डूब गया। श्रीहरिप्रसादजीने कहा—'अब तुम अपना नाम तो बताओ।'

'मेरा नाम है—फिरोजशाह मेहता।' प्रत्युत्तर मिला।

रुपये मिल जानेके बाद विद्यार्थीने कहा—'महाशयजी ! इन रुपयोंकी लिखा-पढ़ी हो जाय।'

'अरे भाई !' श्रीदेसाईजी प्रसन्न मुखसे बोले—'मैं तो तुम्हें छात्रवृत्ति दे रहा हूँ; इसमें लिखा-पढ़ीकी बात कहाँ। मैं अपनी ओरसे तुम्हें पाँच हजार रुपये और देता हूँ, जिनसे तुम विलायतके योग्य कपड़े आदिकी व्यवस्था कर सको।'

पचीस हजारकी रकम पाकर युवक फिरोजशाह मेहता भौंचक्का-सा हो गया। अपनी पढ़ाईकी सुन्दर व्यवस्था होनेसे उसके हृदयमें प्रसन्नताका समुद्र लहराने लगा। उसके नेत्रोंसे आनन्दाश्रु टपक पड़े। उसने श्रीदेसाईजीसे चरणस्पर्श करनेकी आज्ञा माँगी। श्रीदेसाईजीने कहा—'चरणस्पर्श करनेकी आवश्यकता नहीं। खूब पढ़कर गरीबोंकी सेवा करो; यही मेरा आशीर्वाद है।'

नमस्कार करके विद्यार्थीने विदा ली।

पंद्रह वर्ष व्यतीत हुए। अब बैरिस्टर बनकर श्रीफिरोजशाह मेहता बंबईमें प्रख्यात हो चुके थे।

भावनगर-राज्य और ब्रिटिश-शासनके बीच बंदरगाहके बारेमें झगड़ा चल रहा था। उस समयके दीवान श्रीविट्ठलभाईने अपनी चिन्ता श्रीहरिप्रसाद देसाईके समक्ष रखी। श्रीहरिप्रसादजीने कहा—'यदि आपकी इच्छा हो तो हाईकोर्टमें पैरवी करनेके लिये युवक बैरिस्टर फिरोजशाह मेहताको बुला दूँ।'

'यह तो बहुत अच्छी बात होगी।' श्रीविट्ठलभाई बोले—'मैंने उनका नाम तो सुना है, किंतु परिचय नहीं है।'

बंबई हाईकोर्टमें भावनगर बंदरगाहका प्रश्न उपस्थित करनेके लिये श्रीमेहताको पत्र लिखा गया। श्रीफिरोजशाह मेहता सभी कागजातोंसे अवगत होकर न्यायके लिये लड़ने लगे और अन्तिम न्याय भावनगर-राज्यके पक्षमें हुआ। बंदरगाहकी सभी प्रकारकी चुंगी लेनेका अधिकार राज्यको मिल गया।

महाराजा श्रीतख्तसिंहजीने प्रसन्न होकर श्रीफिरोजशाह मेहताको आमन्त्रण भेजा और उन्हें भावनगर बुलवाया। श्रीमेहताजीका सम्मान करते हुए महाराजा साहेबने पाँच लाख रुपये उन्हें उपहारस्वरूप देनेका अपना निश्चय बताया।

'नामदार !' रुपये वापस देते हुए फिरोजशाह बोले—'एक पाई भी मैं लेना नहीं चाहता। मुझे तो अपने पालक—पिता श्रीहरिप्रसादजी देसाईकी आज्ञाका पालन करना था। पिताजीके आज्ञापालनकी फीस नहीं होती।'—और केवल पुष्पहारका सम्मान स्वीकार करके श्रीमेहताजीने विदा ली। वे सीधे श्रीहरिप्रसादजी देसाईके घर पहुँचे और उन्हें भावके साथ प्रणाम किया। श्रीहरिप्रसादजीने श्रीमेहताके कार्य एवं व्यवहारकी बड़ी प्रशंसा की। श्रीदेसाईजीसे अपनी प्रशंसा सुनकर श्रीमेहताजी संकोचमें पड़ गये; उनके मुखसे केवल इतने शब्द निकले—'आपने मुझे पितृऋण अदा करनेका एक छोटा-सा अवसर दिया—यह मेरा सौभाग्य है।' 'अखण्ड-आनन्द'

—पण्डित नवीनचन्द्र कामदार

(३)

'मैं भीख नहीं माँगता'

मैं छात्र-जीवनमें स्वयं अर्थार्जन कर अपनी पढ़ाई करता था। छुट्टियोंमें बिहारसे आसाम घी ले जाता और उधरसे सुपारी, लाल मिर्च आदि लाकर यहाँ बड़े दूकानदारोंको बेच देता। ऐसी ही एक यात्रामें मैं धुबड़ी (आसाम) जा रहा था। रेलगाड़ीके तीसरे दर्जेमें भीड़को चीरता हुआ एक तेरह-चौदह सालका किशोर गलेमें सामानकी टोकरी लटकाये मेरी सीटके सामने आ खड़ा हुआ। उसकी टोकरीमें कंघे, सूई और बटन थे। कई बार आवाज लगानेपर भी किसीने उसकी कोई वस्तु नहीं खरीदी। निराश होकर वह किशोर व्यक्तिगत रूपसे भी कई यात्रियोंसे प्रार्थना करने लगा—'कुछ सामान खरीद लें।' लेकिन किसीने कुछ नहीं खरीदा। मैं गौरसे उसे देख रहा था, अतः वह बड़ी आशासे मेरे पास आकर बोला—'साब ! आप एक कंघी लेंगे ?'

'नहीं'—मैंने सिर हिलाते हुए जवाब दे दिया।

'साब ! कंघी नहीं तो सूईका पैकेट, बटन—कुछ भी ले लें। आज तो सुबहसे कुछ भी नहीं बिका है !'—किशोरकी आवाजमें हलका-सा दर्द भी घुल गया था।

मैंने झिड़कते हुए कहा—'कह दिया कि नहीं चाहिये; क्यों दिमाग चाटते हो ?'

किशोर वहाँसे हट गया। थोड़ी देरमें गाड़ीकी गति

धीमी हो गयी। किशनगंज स्टेशन आया और वह किशोर वहीं उतर गया। मेरे हृदयमें उसके लिये दया-भाव जगा और मैंने आगे बढ़कर उसे पुकारते हुए चवन्नी निकालकर दे दी। किशोरकी आँखोंमें चमक आ गयी और बोला —'क्या दूँ, बाबूजी !'

'तुम इन पैसोंको मेरी ओरसे इनामके रूपमें रख लो' —मैंने सहजभावसे हँसते हुए कहा।

मेरा वाक्य सुनते ही किशोरका चेहरा तमतमा गया और चवन्नी फेंकते हुए वह दृढ़ स्वरमें बोला—'मैं भीख नहीं माँगता, साब !'

मुझे काटो तो खून नहीं। मैं देखता रह गया और मेरे कुछ कहनेसे पूर्व ही वह किशोर तेजीसे उस भीड़में समा गया।

—चन्दनमल 'चान्द'

(४)

निराशामेंसे आशाका प्राकट्य

लगभग २८ वर्ष पहलेकी घटना है। एक दिन रात्रिमें ८-९ बजे दो सज्जनोंने अचानक परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कमरेमें प्रवेश किया—एक पुलिसकी वर्दीमें थे और दूसरे अपने शरीरको सिरसे पैरतक कपड़ेसे ढँके हुए थे। श्रीभाईजी उस समय 'कल्याण'के प्रूफ देखनेमें संलग्न थे। दोनों सज्जनोंने श्रीभाईजीको प्रणाम किया। दोनोंका अभिवादन करते हुए श्रीभाईजीने उनसे बैठनेकी प्रार्थना की। अपना परिचय देते हुए पुलिसकी वर्दी पहने हुए सज्जनने कहा—'मैं गुप्तचर विभागमें काम करता हूँ और साथवाले सज्जन मेरे बड़े भाई हैं।' फिर उन्होंने बड़े ही संकोचके साथ कहा—'भाईजी ! मेरे भाई साहबके शरीरमें कुष्ठ-रोग हो गया है। ये एक अच्छे एडवोकेट हैं, परंतु जबसे रोग हुआ है, इन्होंने अदालत जाना छोड़ दिया है। कुष्ठ-रोग समाजमें बहुत ही घृणित माना जाता है और जिसे यह रोग हो जाता है, समाज उसका बहिष्कार कर देता है। भाई साहब इस रोगकी भीषणताके सम्बन्धमें जानते हैं; अतएव ये अब जीवन रखना नहीं चाहते। ये दिन-रात रोते रहते हैं और किसीसे मिलते-जुलते नहीं। भाईजी ! आपकी महानताके विषयमें मैंने अपने कई मित्रोंसे सुना था। अतएव आज इन्हें बहुत समझा-बुझाकर अपने साथ लाया हूँ। ये अपना मुँह किसीको दिखाना नहीं चाहते; इसीसे ये अपना सम्पूर्ण शरीर कपड़ेसे ढँककर आये हैं।'

श्रीभाईजी बड़ी ही उत्सुकताके साथ ध्यानपूर्वक सब बातें सुन रहे थे। ऐसा लगता था, मानो वे अपने किसी निकटतम स्वजनके सम्बन्धमें कुछ सुन रहे हों। बातें सुनकर श्रीभाईजी भाई साहबकी ओर बढ़े और उनके कंधेपर अपना हाथ रखते हुए बोले—'भाई साहब ! आप भी कुछ कहिये। आप अपने मुँहपरसे कपड़ा हटा लीजिये और मुझे जरा देखने दीजिये कि रोगका स्वरूप क्या है ?'

श्रीभाईजीकी इस आत्मीयता, प्यार तथा सबसे बढ़कर उनके शरीरके स्पर्शने भाई साहबके मन और प्राणोंको उद्वेलित कर दिया और वे फफक पड़े तथा उन्होंने श्रीभाईजीकी गोदमें अपना सिर रख दिया। श्रीभाईजीकी भी आँखें गीली हो गयीं और वे अपने कोमल हाथसे उनके मस्तकको सहलाने लगे। कुछ देर पश्चात् व्यथाका आवेग कम होनेपर भाई साहबने कहा—'भाईजी ! अब इस जीवनको रखना नहीं है। अपने छोटे भाईके आग्रहसे आपके पास आया हूँ। यह मेरा प्रथम और अन्तिम प्रणाम है..........'—इतना कहते-कहते भाई साहब पुनः सुबक-सुबककर रोने लगे। भाईजी बराबर उनके सिरपर हाथ फेरते रहे। वातावरण बहुत ही गम्भीर हो गया।

थोड़ी देर बाद श्रीभाईजी बोले—''भाई साहब ! आप इतने निराश क्यों होते हैं ? सर्व-समर्थ एवं सर्व-सुहृद् भगवान्‌के रहते निराश होनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है। वह प्रभु 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम्' समर्थ है। अतएव निराशाको दूर भगाइये।''

श्रीभाईजीद्वारा इस प्रकार प्रबोध एवं आश्वासन प्राप्तकर भाई साहबका हृदय कुछ शान्त हुआ। वे बैठ गये और अपने मुँहपर पड़ा कपड़ा उन्होंने उठा लिया। श्रीभाईजीने बड़े ही गौरसे उनके मुखको देखा और बोले—'आप व्यर्थमें इतने भयभीत हो रहे हैं। रोग अभी प्रारम्भिक अवस्थामें है। फिर यह शरीर तो व्याधि-मन्दिर है ही। एक व्याधि प्रकट रूपमें आपके सामने आ गयी तो क्यों घबराना चाहिये ? हम वैद्यजीको बुलाते हैं, वे आपके लिये दवाकी व्यवस्था करेंगे। भगवान्‌ने चाहा तो कुछ ही दिनोंमें आप पूर्ण स्वस्थ हो जायँगे। आपने अपना शरीर न रखनेकी जो बात कही, वह उचित नहीं। विष खाकर, अग्निमें जलकर, पानीमें डूबकर या किसी अस्त्र-शस्त्रका अपने ही ऊपर प्रहार करके जो व्यक्ति अपने शरीर और जीवनको जान-बूझकर नष्ट कर देते हैं, वे बड़े ही अभागे एवं दयाके पात्र हैं।

मानव-शरीर भगवान्‌की प्राप्तिका साधन है और यह बड़े ही पुण्यसे भगवान्‌की विशेष कृपासे प्राप्त होता है। ऐसे दुर्लभ देहको नष्ट कर देना बड़ा भारी पाप है। आत्महत्यासे कष्टकी निवृत्ति नहीं होती। प्रारब्ध तो आगे भी भोगना पड़ेगा। मनुष्य जिस क्षणिक दुःख, शोक या मनस्तापसे मुक्त होनेके लिये आत्महत्या करता है, वह अनन्तगुना होकर अनन्त कालतक उसे परलोकमें कष्टदायक होता है। अतः आत्महत्या करनेकी बात मनमें ही नहीं लानी चाहिये। भगवान् परम दयालु हैं। उनकी कृपापर पूर्ण विश्वास करके चिकित्सा करवानी चाहिये और साथ-ही-साथ श्रद्धापूर्वक भगवान्‌से करुण प्रार्थना करनी चाहिये।

"आपकी पुकार सच्ची होगी तो भगवान् उसे अवश्य सुनेंगे। ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो भगवान्‌की कृपासे न हो सके। अतएव मेरी बातपर विश्वास करके आप स्वयं अपने मनसे अपनी ही करुण भाषामें सर्वशक्तिमान्, सर्व-सुहृद् भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये। विश्वासपूर्वक की हुई प्रार्थनासे मानस तथा शारीरिक—सभी प्रकारके रोगोंका नाश हो सकता है। 'साइंस आव थॉट रिव्यू' नामक इंग्लैंडके एक मासिक पत्रमें श्रीगिल्वर्ट हेनरी गेज नामक सज्जनने लिखा था—'जर्मनीके एक आदमीको 'शैशविक पक्षाघात' (POLIO) का रोग जन्मके पहले ही वर्षमें हो गया था। फलतः उनके दोनों पैर लकवेसे बेकार हो गये। उसके लिये प्रार्थना की गयी। चार महीनेके बाद समाचार मिला कि उसके पैरमें नवीन शक्ति आ गयी है। ४८ साल-से जो मांसपेशियाँ मरी हुई थीं, वे सक्रिय हो गयीं। उनका जीवन सब चिन्ताओंसे मुक्त, भगवद्-विश्वासपूर्ण और प्रफुल्लित हो गया।'

'पुरानी बात है—कलकत्तेमें एक प्रसिद्ध व्यवसायीको प्लेग हो गया। १०४-५ डिग्री बुखार था और दोनों जाँघोंमें बड़ी-बड़ी गिल्टियाँ निकल आयी थीं। कलकत्तेके सबसे बड़े डाक्टरने उन्हें देखकर कह दिया—'बचनेकी आशा बिल्कुल नहीं है'; परंतु भगवान्‌पर उनका विश्वास था। उन्होंने कमरा बंद करके भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति सामने स्थापित कर ली और श्रीकृष्णमें मन लगाकर 'हरिः शरणम्' मन्त्रका जप करने लगे। भगवान्‌की कृपासे प्रातःकाल होते-होते वे बिल्कुल स्वस्थ हो गये और वर्षों जीवित रहे।

"इस प्रकारकी और भी अनेक घटनाएँ मैंने अपने जीवनमें तथा दूसरोंके जीवनमें घटते देखी हैं। कैंसर, टी० बी० आदि रोग भी प्रार्थनाद्वारा चमत्कारिक रूपमें ठीक हुए हैं। मेरा दृढ विश्वास है कि भगवान्‌की प्रार्थनासे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। अतएव आप मन-ही-मन भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये तथा मन-ही-मन 'हरिः शरणम्' मन्त्रका जप कीजिये।"

श्रीभाईजीकी बातें भाई साहबने बड़ी ही उत्सुकता एवं श्रद्धाके साथ सुनीं। उनके हृदयमें आशाका संचार हो गया। श्रीभाईजीने जब बोलनेसे विराम लिया, तब उन्होंने कहा—'भाईजी! आपके प्यार, स्नेह और आत्मीयताने मुझे अभि-भूत कर लिया है। आपने भगवान्‌के सौहार्द एवं सामर्थ्यकी जो बातें कही हैं, उनपर मेरा विश्वास जमा है। अब मैं जीवनसे निराश नहीं हूँ। आप जो दवाकी व्यवस्था करेंगे, मैं उसे विश्वासपूर्वक लूँगा और मन-ही-मन आपके बताये अनुसार भगवान्‌से प्रार्थना करूँगा।'

भाई साहबके मुखसे आशाभरे शब्द सुनकर पुलिस अधिकारी प्रफुल्लित हो गये। दोनों भाइयोंने श्रीभाईजीको प्रणाम किया और उनसे विदा ली।

दूसरे दिन श्रीभाईजीने स्थानीय प्रसिद्ध वैद्यराजजीको बुलवाया और उनसे आयुर्वेदिक दवाकी व्यवस्था करवायी। उस समयतक 'सल्फोन' नामक ऐलोपैथिक दवाका, जिससे कुष्ठरोगका निर्मूलन सम्भव है, प्रचलन नहीं हुआ था। भाई साहब वह दवा लेने लगे। असली दवा तो भगवान्‌से विश्वासपूर्वक करुण प्रार्थना एवं उनके नामका जप था; वे दोनों बराबर चलते रहे। कुछ महीनोंमें भाई साहब बिल्कुल स्वस्थ हो गये और अदालतमें कार्य करने लगे।

इस घटनाने श्रीभाईजीके कोमल हृदयको कुष्ठरोगसे पीड़ित भाई-बहनोंकी सेवाके लिये भी कुछ करनेके लिये प्रेरित किया। संयोगसे कुछ ही दिनों पश्चात् प्रसिद्ध समाज-सेवी बाबा राघवदासजीने गोरखपुरमें 'कुष्ठ-सेवाश्रम'की स्थापनाका निश्चय किया और श्रीभाईजी उनके अन्यतम सहयोगीके रूपमें उनके साथ हो गये। आश्रमकी स्थापनाके कुछ मास बाद पूज्य बाबाजी संत श्रीविनोबाजीके भूदान-कार्यमें लग गये और कुष्ठ-सेवाश्रमका पूरा उत्तरदायित्व श्रीभाईजीपर ही आ गया। अपने अत्यन्त व्यस्त जीवनमेंसे भी समय निकालकर श्रीभाईजीने इस कार्यको ऐसे सुन्दर ढंगसे आगे बढ़ाया कि आज गोरखपुरका कुष्ठ-सेवाश्रम देशकी महत्त्वपूर्ण कुष्ठ-सेवा-संस्थाओंमें है और हजारों-हजारों निराश भाई-बहनोंको वह आशा एवं जीवन प्रदान कर रहा है।

'कल्याण'के प्रेमी पाठकों तथा ग्राहकोंसे आवश्यक नम्र निवेदन

यह सूचित करते हुए हमें हर्षका अनुभव हो रहा है कि चालू वर्ष (सन् १९७४) का विशेषाङ्क—'श्रीगणेश-अङ्क' इतना सर्वजनोपयोगी और लोकप्रिय सिद्ध हुआ कि उसकी १,६०,००० (एक लाख साठ हजार) प्रतियाँ कुछ महीनोंमें ही समाप्त हो गयीं और उसकी माँग अभी बनी ही हुई है। अब भी उसके लिये शुल्क-राशि आती जा रही है। किंतु विशेषाङ्क समाप्त हो जानेकी दशामें जिन महानुभावोंसे इस वर्षके लिये अब रुपये प्राप्त हुए हैं या हो रहे हैं, उनकी वह धन-राशि 'कल्याण'के आगामी वर्ष (सन् १९७५) के वार्षिक शुल्क-हेतु जमा करनी पड़ रही है। शुल्क भेजनेवाले महानुभाव हमारी परिस्थितिजन्य विवशताके लिये हमें कृपापूर्वक क्षमा करें। 'श्रीगणेश-अङ्क'के निमित्त अब किसीको भी धन-राशि भेजनेका कष्ट नहीं करना चाहिये।

जो सज्जन 'श्रीगणेश-अङ्क'से वञ्चित रह गये हैं, उन्हें चाहिये कि वे आगामी वर्षके विशेषाङ्कके लिये वार्षिक शुल्क समयसे भेज दें। आगामी वर्षका विशेषाङ्क—'श्रीहनुमान-अङ्क' होगा। भगवद्भक्तोंके शिरोमणि, परम श्रीरामभक्त श्रीहनुमानजी महाराजसे सम्बन्धित यह विशेषाङ्क भी भगवत्कृपासे 'श्रीगणेश-अङ्क'की भाँति ही सर्वहितकारी एवं लोकप्रिय सिद्ध होगा, ऐसी सम्भावना है। श्रीहनुमत्तत्त्व, उपासना, लीला-चरित्र, उनके लोकोत्तर गुणों आदिपर प्रकाश डालनेवाली बहु-मूल्य उपादेय सामग्रीसे युक्त यह अभूतपूर्व संकलन भी सर्वथा संग्रहणीय होगा। इच्छुक सज्जन वार्षिक शुल्क रुपया १२.०० मात्र भेजकर पहलेसे ही अपनी प्रति सुरक्षित करा लें एवं अपने स्वजनों और मित्रोंको भी इस परम उपादेय अङ्कका ग्राहक बननेकी प्रेरणा देकर लाभान्वित करें।

'कल्याण'के दो पुराने विशेषाङ्क रियायती मूल्यपर प्राप्त करें !

(१) ४३वें वर्षका–परलोक और पुनर्जन्माङ्क—पृष्ठ-सं० ६९६, सचित्र, मूल्य रु० ९.०० मात्र।

यह अङ्क परलोक और पुनर्जन्मसम्बन्धी विविध समस्याओं और पहलुओंपर प्रकाश डालनेवाले विद्वत्तापूर्ण लेखों एवं पुनर्जन्मकी सत्य और रोचक घटनाओंका सुन्दर संकलन है। आज भी यह ५ वर्ष पूर्व छपे मूल्यपर ही प्राप्य है।

(२) ४५वें वर्षका–अग्निपुराण-गर्गसंहिता-नरसिंहपुराण-अङ्क—पूरी फाइलसहित, मूल्य रु० ८.५० मात्र।
सजिल्द रु० १०.०० ,, ।

(पूरी फाइलसहित–कुल पृष्ठ-संख्या १३६२, रंगीन चित्र ३०)

अग्निपुराण अध्याय २०१ से समाप्तितक	गर्गसंहिता अश्वमेधखण्ड एवं माहात्म्य	नरसिंहपुराण—सम्पूर्ण (मूल-अनुवादसहित)

यह अङ्क भक्ति, ज्ञान, वैराग्यसे ओत-प्रोत एवं भारतकी प्राचीन विद्या, कला, विज्ञान, संस्कृति आदिका दिग्दर्शन करानेवाली सामग्रीका अनूठा संग्रह है।

इस विशेषाङ्कके साथ उस वर्षके ११ साधारण अङ्कोंके अतिरिक्त 'कल्याण'के पुराने १० साधारण अङ्क भी बिना मूल्य दिये जाते हैं। साथ ही मूल्यमें रु० १.५० की विशेष छूट दी गयी है। इस अङ्कका वास्तविक मूल्य रु० १०.०० एवं सजिल्दका रु० ११.५० है; और लिया जा रहा है—अजिल्दका ८.५० और सजिल्दका १०.०० मात्र।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

निवेदन

'कल्याण'के पाठकोंको यह पता ही है कि 'कल्याण'के सम्पादक आदरणीय पं० श्रीचिम्मनलालजी गोस्वामी महाराजका गत वैशाख शु० १४, तदनुसार ५ मई, १९७४ को तिरोभाव हो गया। उनके स्थानपर किसको यह गुरुतर दायित्व सौंपा जाय, यह एक समस्या हो गयी। मेरे मनमें भगवत्कृपासे प्रेरणा हुई कि पूज्य स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजसे इसके लिये निवेदन करना चाहिये; अतः संस्थाके ट्रस्टियोंकी सम्मतिसे पूज्य श्रीस्वामीजी महाराजसे मैंने आग्रहपूर्वक प्रार्थना की; उन्होंने कृपा करके अपना नाम 'कल्याण'-सम्पादकके रूपमें देना स्वीकार कर लिया। उनके पास समयका अत्यन्त अभाव है। पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री, साहित्याचार्य आदरणीय श्रीगोस्वामीजीके साथ सम्पादन-कार्य करते रहे हैं; अब भी वे पूज्य श्रीस्वामीजी महाराजकी यथावश्यक सम्मतिसे सम्पादन-कार्य करते रहेंगे, यह निश्चय हुआ है।

सम्पादन-सम्बन्धी पत्र व्यक्तिगत नामसे न भेजकर सम्पादक—'कल्याण', पो० गीतावाटिका, गोरखपुरके पतेसे और व्यवस्था-सम्बन्धी पत्र व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीताप्रेस, गोरखपुरके पतेसे भेजने चाहिये।

निवेदक—

बिहारीलाल झुँझनूँवाला

ट्रस्टी एवं मन्त्री